रघुवंश
आधुनिकता
और
सर्जनशीलता

Purchased at Delhi
Feb. March – 1987

आधुनिकता और सर्जनशीलता
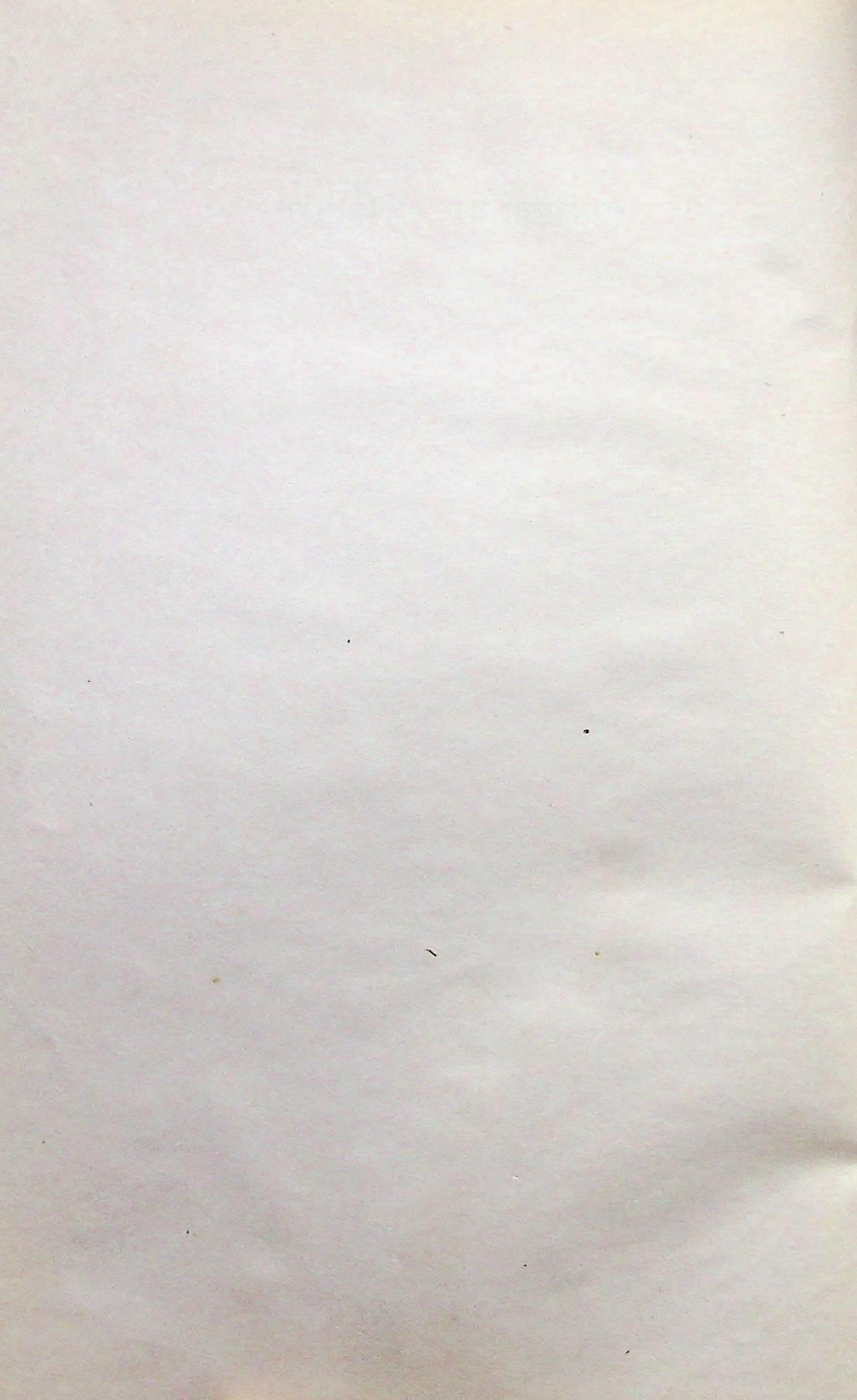
आधुनिकता और सर्जनशीलता

रघुवंश

प्रस्तावना

मनुष्य शाश्वत है, पर विभिन्न युगों और समाजों का आदमी अलग भी होता है। यही बात साहित्य के बारे में भी सटीक है। व्यक्ति के सार्वभौम मनुष्य को पहचानना आवश्यक है और महत्वपूर्ण भी, पर उसके व्यक्तित्व को आंकना ही उसकी सही पहचान है। इसी प्रकार साहित्य के सार्वभौम और विश्वजनीन स्वरूप में उसके युगीन वैशिष्ट्य को ग्रहण कर पाने की कोशिश ही साहित्यचिंतक का लक्ष्य है। जो लोग साहित्य के मूल्यांकन के रस, अलंकार, ध्वनि, छंद आदि स्थाई मानदंड मानते हैं अथवा सौंदर्य और आनंद की निश्चित कोटि से साहित्य का मूल्यांकन करते हैं वे युगविशेष की साहित्यिक रचना के बारे में सामान्य जानकारी दे पाते हैं, उसकी रचनात्मक उपलब्धि का मूल्यांकन करने से चूक जाते हैं। प्रस्तुत पुस्तक के कई लेखों में युग के संदर्भ में सर्जन के इस आयाम को समझने-समझाने का प्रयत्न किया गया है।

साहित्यिक रचना के बारे में रूप-तत्व तथा वस्तु-तत्व का झगड़ा चला आया है। यह विवाद बहुत कुछ एकपक्षीय और भ्रामक रहा है। आज यह समझना आसान है, प्राचीनों के लिए भी कठिन नहीं था, कि जिस भाव, अनुभव अथवा वस्तु को रचना में अभिव्यक्ति मिलती है, वह रचना में, अभिव्यक्ति मात्र में, भाषिक रूप ग्रहण करती है। अतः इस विवाद में पड़े बिना, साहित्य की आर्थिक संरचना में रचना की अनुभवसंपदा तथा उसके वैशिष्ट्य को खोजने तथा विवेचित करने की बात उठाई गई है। इस पुस्तक में कई जगह भाषा और संवेदना के सवाल को इस दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है।

भाषिक अभिव्यक्ति (शब्दार्थ) होने के कारण साहित्य में मानवीय मूल्यों की स्थिति निश्चित है। मूल्यों से स्वतंत्र साहित्यचर्चा संभव नहीं है। पर साहित्य में अनुभव तथा संवेदनाओं के साथ मूल्य अभिव्यक्ति पाते हैं, अतः रचना के मूल्यांकन का मानदंड मूल्यों को नहीं बनाया जा सकता। यह अवश्य है कि किसी रचना की अभिव्यक्ति की संरचनात्मक प्रौढ़ता तथा विशेषता का स्तर मानवीय मूल्यों से मापा जा सकता है। इस प्रकार भाषा की सर्जनशीलता के माध्यम से रूपवादी तथा मूल्यवादी दृष्टियों के अतिवाद से बचा गया है और उनमें सामंजस्य भी स्थापित किया जा सका है।

प्रस्तुत पुस्तक में कुछ लेख विविध साहित्यिक रूपों पर है, प्रायः ये साहित्य के आधुनिक रूप हैं। यहां यह स्पष्टीकरण देना आवश्यक है कि इन संकलित लेखों में साहित्य संबंधी नए प्रश्नों को उठाया गया है, पर उनके सांगोपांग उत्तर नहीं हैं। इनमें आधुनिकता, भाषिक सर्जनशीलता तथा मूल्यप्रक्रिया संबंधी मेरे विचारों

के सूत्र तथा संदर्भ हैं, पर पूरा व्यवस्थित विवेचन नहीं आ सका है। मैं अपने पाठकों से इस विवेचन को देने के लिए प्रतिश्रुत हूं।

मैं अपने शिष्य डा० सत्यप्रकाश तथा मित्र डा० माहेश्वर के प्रति आभारी हूं, क्योंकि इस पुस्तक के प्रकाशन में इन दोनों की प्रेरणा रही है।

रघुवंश

8 अगस्त 1980
3/2 बैंक रोड,
इलाहाबाद-211002

अनुक्रम

आधुनिकता और सर्जनशीलता

भारतीय बौद्धिक परिस्थिति और आधुनिकता का संदर्भ

हमारी अर्थात हमारे देश और राष्ट्र की पहली और प्रमुख समस्या है कि यह गरीब, अशिक्षित, अवरुद्ध और अनेक रूढ़ियों तथा परंपराओं से जकड़ा देश अपनी विशाल जनसंख्या के साथ आगे कैसे बढ़े ? आगे बढ़ने के बारे में सही सोचने का आज हमारा ढंग यहां से शुरू होता है कि देश के बहुत बड़े जन-समाज की गरीबी कैसे दूर हो ? हम शिक्षित कैसे हों ? अपनी परंपराओं और रूढ़ियों से मुक्त होकर हम गतिशील कैसे हों ? उन्नीसवीं शताब्दी से शुरू होने वाले पुनर्जागरण और बीसवीं शताब्दी के स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान बार बार यह भाव हमारे मन में जगा कि आज हम गरीब और पिछड़े हुए जरूर हैं, पर हमारे पास अतीत की गौरवपूर्ण परंपरा का उत्तराधिकार है। आत्मसंतोष के लिए इसका यह अर्थ भी लगाया गया कि हम भौतिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं, पर आध्यात्मिक क्षेत्र में हम आज भी पश्चिम को शिक्षा देने की स्थिति में हैं। उस समय तो यह चल गया, क्योंकि तब हम अपनी अगति, अवरुद्धता, विपनन्ता का कारण विदेशी शासन मान कर निश्चिंत हो जाते थे और अपनी स्वाभिमान की रक्षा अतीत के सहारे कर लेना चाहते थे।

आज हमारे सामने यह स्पष्ट हो चुका है कि देश की संपूर्ण प्रगति का मार्ग आधुनिकीकरण और अभिनवीकरण की प्रक्रिया से गुजरने का है। यह संभव नहीं कि पश्चिम से हम विज्ञान और प्रविधि उधार ले लें और आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक, नैतिक मूल्यों को अपनी परंपरा से पा जाएं, जैसा कि भारतीय पुनरुत्थान के एक दौर के नेताओं का मनोभाव रहा है। साथ ही पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान के साथ वहां के अन्य सभी मूल्यों को लेकर यहां जमाने की चेष्टा देश की संपूर्ण प्रगति की दृष्टि से विफल रही है, और रहेगी, यद्यपि देश के अनेक नेताओं की दृष्टि ऐसी भी रही है। वस्तुतः प्रगति एक संपूर्ण चेष्टा है, ऐसा नहीं होता कि हमारे बाहरी जीवन का स्वरूप और तरह का बने अर्थात हमारी संस्थाएं, पद्धतियां, प्रणालियां, योजनाएं, हमारा विज्ञान, उद्योग और सारा आर्थिक ढांचा एक प्रकार का हो और जीवनगत सारे मूल्य दूसरे स्तर पर संघटित हों। अतः देश के व्यापक और समग्र जीवन को गतिशील तथा मौलिक सर्जनशीलता से प्रेरित करने वाली आधुनिकीकरण की प्रक्रिया सभी स्तरों और क्षेत्रों को समान रूप से एक साथ गत्यात्मक बनाएगी।

आधुनिकता क्या है ? आधुनिकीकरण का स्वरूप क्या होगा ? और उसकी

दिशा क्या है ? अपने देश के संदर्भ में इन प्रश्नों पर विचार कर लेना जरूरी है; बिना इसके ये सारे प्रश्न और उनके उत्तर हमारे लिए बेमानी हो जाते हैं। इन प्रश्नों तथा समस्याओं की तह तक पहुंचने के लिए देश-विदेश, राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय, इतिहास की परंपराओं और वर्तमान के समस्त संदर्भों का विश्लेषण और विवेचन जरूरी है। अभी तक ऐतिहासिक परंपराओं का ज्ञान दूसरों से हमने प्राप्त किया है और अपनी वर्तमान परिस्थिति तथा उसके संदर्भों का विश्लेषण हमने दूसरों की दृष्टि से ही प्रायः किया है। आधुनिकीकरण की सही दिशा पाने के लिए जरूरी है कि हम समस्त परंपराओं के इतिहास को अपनी वर्तमान स्थिति से संबद्ध करके देखें और अपने वर्तमान को उसके समस्त संदर्भों से जोड़ कर ग्रहण करें।

इसके लिए आज की भारतीय बौद्धिक परिस्थिति का सही विश्लेषण जरूरी है। देश की अवरुद्ध सर्जनशीलता के कारणों को विवेचित करने के लिए इसकी स्थिति का सही मूल्यांकन होना चाहिए। किसी देश, समाज या राष्ट्र की मौलिक सर्जनशीलता बौद्धिक प्रक्रिया तथा चेष्टाओं के रूप में अग्रसर होती है। देश को प्रगति करने के लिए, संचरणशील होने के लिए, मौलिक और सर्जनात्मक होने के लिए एक ऊर्जस्वी बौद्धिक चेष्टा की अपेक्षा है। इसी रचनात्मक बौद्धिक प्रयत्न से देश को आधुनिकता की वह दृष्टि मिल सकेगी जो अभिनवीकरण का चक्र प्रवर्तन कर देगी। फिर देश को नया दर्शन मिलेगा, नई ऐतिहासिक दृष्टि मिलेगी, वह नई सामाजिक व्यवस्था को स्वरूप प्रदान करेगा, नए आर्थिक सिद्धांतों की खोज करके उनके आधार पर अपनी योजनाओं का नियोजन करेगा और अंततः उसे वर्तमान के व्यापक संदर्भ में यथार्थ को ग्रहण करने और उसके अनुकूल आधुनिकी-करण की शुरुआत करने की वैज्ञानिक दृष्टि और प्राविधिक क्षमता मिल सकेगी।

आज की भारतीय बौद्धिक परिस्थिति का इतिहास : वस्तुतः हमारा देश उन्नीसवीं शती में ही यूरोप की राज्यशक्ति और संस्कृति के पूरे संपर्क, प्रभाव और संघात में आया, उसके पहले यूरोप की विभिन्न राज्यशक्तियां (कंपनियों के रूप में) भारत की विश्रृंखलित राजनीतिक परिस्थिति में अपनी जड़ें जमाने की प्रतिद्वंद्विता में लगी हुई थीं। इस संघात के ठीक पहले अर्थात अठारहवीं शताब्दी तक हमारा बौद्धिक समाज सांस्कृतिक चक्र प्रवर्तन के उस स्थिर और निष्क्रिय स्तर तक पहुंच चुका था जहां उसकी सारी प्रतिभा, मेधा और शक्ति अपनी उपलब्धियों की जुगाली में ही सार्थक मानी जाने लगी थी। अतः समस्त राष्ट्र तथा समाज की चेष्टा इस समय तक परंपरित रूढ़िग्रस्त और असर्जनात्मक हो चुकी थी। पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी तक दर्शन, धर्म, साधना के क्षेत्र में जो सांस्कृतिक चेष्टा परिपक्व और गतिशील हुई उसने साहित्य (उसके पहले कलाओं को भी) और समाज को नई सर्जनशीलता से अनुप्राणित जरूर किया था। परंतु इस सांस्कृतिक

संचरण में चुनौतियों तथा समस्याओं को बहुत कुछ आत्मरक्षा की दृष्टि से स्वीकारने और सुलझाने का प्रयत्न किया गया। इस कारण अपनी सारी सर्जनशीलता और उपलब्धियों के बावजूद उससे एक ऐसी समन्वयात्मक मूल्यदृष्टि विकसित हुई जो आत्मरक्षा के लिए जितनी उपयोगी है, विकास और विस्तार के लिए उतनी ही बाधास्वरूप भी।

स्वीकार जीने का अवसर देता है, पर अस्वीकार से जीने की क्षमता मिलती है। जीने का अर्थ यही है कि गतिशीलता बनी रहे, स्थिर रह कर जीने का मानी नहीं रह जाता। गति कभी कभी निरर्थक हो सकती है, पर सर्जनशीलता उसके बिना संभव नहीं। इसीलिए इस प्रक्रिया को निरंतर जारी रखने के लिए अस्वीकार का महत्व है, चुनौतियों को स्वीकारते रहना आवश्यक है। साहसिक क्रांतिकारिता के बिना संस्कृति की सर्जनशीलता चुक जाती है, और समन्वय की मूल्यदृष्टि किसी भी स्तर की क्रांति को पनपने नहीं देती। यही अंतर पंद्रहवीं शताब्दी में शुरू होने वाले यूरोप के पुनर्जागरण और इसी युग के भारतीय सांस्कृतिक संचरण में परिलक्षित होता है। यूरोप में इस भूमिका से शुरू होने वाला सांस्कृतिक संच-रण बीच बीच में अनेक चुनौतियों और क्रांतियों से अंतःसंचरित हुआ है, बिना इन्हें साहस के साथ झेले यूरोप के लिए आधुनिक संचरण को यहां तक आगे बढ़ा पाना संभव नहीं था। इसके विपरीत हमारे देश के सांस्कृतिक आंदोलन ने सामाजिक जीवन और बौद्धिक चेष्टा को प्राणवत्ता तो दी, पर यह जीवनी शक्ति की गत्यात्मकता में परिलक्षित न होकर सहनशीलता के रूप में ही व्यक्त हुई है। अतः एक ओर इसमें अंतःसंचरण की शक्ति नहीं विकसित हो सकी। दूसरी ओर यूरोप के संघात को निजी संदर्भों में आधुनिकता के रूप में ग्रहण करने की क्षमता भी नहीं रही।

भारतीय व्यापक जीवन की यह विशेषता रही है कि यहां ग्रहण सर्वव्यापी रहा है, पर त्याग के प्रति निर्ममता कभी नहीं बरती गई। सब कुछ मिलता और सिमटता गया, बटोरा जाता रहा। विचारभिन्नता और मतों के अंतर पाए गए हैं, इनके लिए शास्त्रार्थ और सांप्रदायिक उखाड़-पछाड़ भी कम नहीं हुए, परंतु वैसा साहसिक विद्रोह जो क्रांतिकारिता को जन्म देता है और जिससे सांस्कृतिक जीवन में नई रचनाशीलता आरंभ होती है, हमारे बौद्धिकों में उपज नहीं सका। जहां जिस स्तर पर यह क्रांतिकारिता प्रकट भी हुई, वहां भी पंडितों और शास्त्रियों के समर्थन के अभाव में अथवा विरोध से उसे सामाजिक जीवन में कोई विस्तृत आधार नहीं मिल सका।

भारतीय जीवन ने अपनी इस ग्रहण-वृत्ति के कारण संभवतः अपने प्रत्येक सांस्कृतिक संचरण के समाप्त होने के बाद उसकी ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों को समाहित कर लिया है, यही कारण है कि पिछले युग के गतिशील तत्व भी उसमें

स्थिर होते गए हैं। वैदिक कर्मकांड अपने अग्निहोत्रों, मंत्रोच्चारों तथा विधि-विधानों के साथ एक बार चुनौती का विषय जरूर बना पर वह भारतीय जीवन में नाना रूपों में प्रतिफलित होता आया है। कौन ऐसा धर्म है, ऐसा संप्रदाय है, पंथ है और कौन ऐसा युग है जिसने अपने कर्मकांड की पद्धति न विकसित कर ली हो। औपनिषदिक आत्मवाद और बौद्ध अनात्मवाद ने जिस वैराग्य की प्रवृत्ति को जन्म दिया, वह भौतिक जीवन की निष्क्रियता में सदा बनी रही है। अपनी प्रबल तर्कशक्ति के बावजूद वेदांत ने जो प्रामाण्यवाद की परंपरा चलाई, उसने भारतीय चिंतन को परमुखापेक्षी रहने की आदत डाल दी है। कर्मवाद की गत्यात्मक शक्ति निर्भरता के रूप में अकर्मण्य भाग्यवाद बन कर हमारे जीवन में गहरे समाहित हो गई है। आज भी देश के व्यापक जीवन-क्षेत्र में बड़े से बड़े व्यक्ति को किसी के सामने हाथ पसारे या चरण छूते हुए देखा जा सकता है। भक्तियुग का समर्पण हमको किसी के प्रति समर्पित होने और अपने दायित्व से सहज ही मुक्त होने की प्रेरणा भर दे पाता है।

उन्नीसवीं शती में पश्चिम, विशेष कर अंगरेज के संपर्क, प्रभाव और संघात से हमारे देश में पुनर्जागरण का नया युग प्रारंभ होता है। इस समय तक यूरोपीय संस्कृति आधुनिकता के नए संदर्भों से जुड़ती जा रही थी, विकास के उन्नततर सोपानों पर अग्रसर होती जा रही थी। उदार शिक्षा मानववादी दृष्टि, प्रजातांत्रिक पद्धति, समानता आदि सिद्धांतों के साथ वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नति में भी यूरोप आगे बढ़ रहा था। आधुनिक यूरोप की इस गत्यात्मक संस्कृति के संपर्क और संघात ने भारतीय उच्च वर्ग को नए संस्कार में दीक्षित होने का अवसर दिया। परंतु कोई भी सस्कृति अपने प्रभाव को विस्तार देते समय इस बात पर बल देती पाई जाती है कि इस प्रकार वह अपनी शक्ति को अधिक संघटित कर सकेगी और साथ ही अपनी केंद्रीय स्थिति सुरक्षित रख सकेगी।

पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त बुद्धिजीवी वर्ग पश्चिम की संस्कृति से चमत्कृत थे, साथ ही इंग्लैंड के प्रभावशाली बौद्धिकों का प्रयत्न इस नए बुद्धिजीवी वर्ग के माध्यम से सारे देश को अपने बौद्धिक और सांस्कृतिक प्रभाव-क्षेत्र में रखना चाहता रहा है। अंगरेज की स्वीकृत भाषा-नीति इसका प्रबल प्रमाण है। उसके द्वारा पश्चिमी संस्कारों की सर्वाधिक गहरी दीक्षा दी जा सकी है। परंतु यह भी स्पष्ट है कि पश्चिम के गहरे संघात ने भारतीय चेतना का गहरा मंथन भी किया, जिससे उसमें निजी पुनर्जागरण की प्रक्रिया का प्रारंभ भी हुआ। अतः इस दौरान भारतीय बौद्धिकों के दो स्पष्ट वर्ग देखे जा सकते हैं। एक वर्ग पश्चिम की संस्कृति, प्रतिभा और मौलिकता से अभिभूत रहा है और किसी न किसी रूप में पुनर्जागरण की प्रक्रिया को पश्चिमीकरण के रूप में स्वीकार करता रहा है। दूसरा वर्ग पश्चिम को और उसकी संस्कृति को एक चुनौती के रूप में ग्रहण करता रहा है और

राष्ट्रीय संदर्भों में अपने नए जीवन को संघटित करने में प्रयत्नशील रहा है, परंतु यह दूसरा वर्ग भी पश्चिम से आक्रांत होने के कारण देश के आधुनिकीकरण की सही दिशा का अनुसंधान नहीं कर सका। कभी पश्चिम से प्रभावित और चमत्कृत होने के कारण इसने पश्चिम के अनुरूप अपनी प्राचीन संस्कृति की खोज और व्याख्या करने की चेष्टा की, और कभी ऐसा भी हुआ है कि पहले वर्ग के अधिक पश्चिमाभिमुख होने की प्रतिक्रिया में और कभी कभी अपनी सहज प्रवृत्ति के कारण भी दूसरे वर्ग के बौद्धिकों का झुकाव भारत की प्राचीन गरिमा की ओर रहा है।

इस दूसरी बौद्धिक परंपरा का भारतीय आधुनिकता के अनुरूप प्रतिफलन गांधी के व्यक्तित्व में देखा जा सकता है। एक ओर उन्होंने देश के सारे इतिहास और परंपरा को वर्तमान में खोजने की चेष्टा की, इसके साथ ही यथार्थ को पूर्णतः ग्रहण किया, दूसरी ओर पश्चिमी आधुनिक दृष्टि को मूल्यबोध के गहरे स्तर पर निजी संदर्भों में समुपयोजित करने की चेष्टा की। गांधी का समस्त मानवतावाद, विश्वबंधुत्व, सत्याग्रह, अहिंसावाद और सर्वोदय न केवल देश की परंपराओं से ग्रहीत और विकसित हुआ है, वरन इनकी सारी परिकल्पना में देश के यथार्थ की गहरी पकड़ रही है। इस प्रकार गांधी के व्यक्तित्व और चिंतन में वे सारी संभावनाएं निहित रही हैं, जिनके आधार पर भारत की बौद्धिक परिस्थिति आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को गतिशील करने में सक्षम हो सकती थी।

भारतीय बौद्धिक परिस्थिति का स्वरूप : स्वाधीनता के पूर्व भारतीय रंगमंच पर गांधी के व्यक्तित्व का व्यापक प्रभाव माना जाता है। परंतु नेहरू एक ऐसे वर्ग के प्रतिनिधि थे जो अंतर्राष्ट्रीयता और विश्व नागरिकता के नाम पर यूरोप को महत्व देने का अभ्यस्त रहा है और आधुनिकीकरण के नाम पर पश्चिमीकरण को स्वीकारता रहा है। इस बौद्धिक वर्ग के साथ या पीछे उन्नीसवीं शती से अधिकाधिक विकसित होने वाला पश्चिमी शिक्षा और संस्कारों में पला वह बुद्धिजीवी वर्ग भी रहा है जो पश्चिम के सामने इस सीमा तक समर्पित रहा है कि अपने को भारतीय कहने में लज्जा का अनुभव करता रहा है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद ही गांधी की हत्या के साथ देश की प्रगति की सही दिशा का एक संकेत भी दृष्टि से ओझल हो गया। फिर नेहरू युग आरंभ होता है, और उसके साथ ही पश्चिमाभिमुख अंतर्राष्ट्रवादियों की स्थिति मजबूत होती गई है। नेहरू के नेतृत्व में उनके व्यक्तित्व के समानांतर इन बौद्धिकों का महत्व, शक्ति और प्रभाव बढ़ा है। यह स्वाभाविक स्थिति थी, क्योंकि नेहरू के व्यक्तित्व को भी इनसे सर्वाधिक बल मिला, यह वर्ग उनके व्यक्तित्व से प्रभावशील हुआ तो इससे उसे प्रभावशील बनाने में पूरा सहयोग भी दिया।

आज इसका परिणाम भी स्पष्ट दिखाई दे रहा है, भारत की समस्त राष्ट्रीय

और अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक और व्यापारिक, शैक्षणिक और औद्योगिक, वैज्ञानिक और प्राविधिक, सामाजिक और सांस्कृतिक नीतियों और योजनाओं पर इनका गहरा प्रभाव है। इस वर्ग में अपने देश को जानने-समझने योग्य संसक्ति नहीं है, बिना गहरे लगाव के इनके लिए अपने समाज की यथार्थ समस्याओं को सही ढंग से ग्रहण कर पाना संभव नहीं है। यही कारण है कि इनके द्वारा परिचालित या समर्थित देशी-विदेशी नीतियां खोखली अंतर्राष्ट्रीयता, फैशन की विश्व नागरिकता और नकली मानववाद पर आधारित रही है। अमौलिक, असर्जनात्मक तथा निष्क्रिय बौद्धिक चेष्टा वाले इस वर्ग ने तटस्थता, निरपेक्षता और पंचशील जैसे सिद्धांतों का हवाई, काल्पनिक और बांझ रूप प्रतिपादित किया है। वैसे स्वतः ये सिद्धांत गत्यात्मक न होकर स्थिर स्थिति से उद्भूत हैं, परंतु इनका नीति के स्तर पर परिचालन हमारे नीतिज्ञों की संदर्भहीनता को प्रकट कर देता है।

पश्चिमी संस्कृति से अभिभूत और संस्कारों में दीक्षित यह वर्ग देश की प्रगति की सारी संभावना और परिकल्पना पश्चिम अर्थात इंग्लैंड—इधर अमरीका तथा एक सीमा तक रूस—के अनुकरण में मानता और करता है। उनकी मनोवृत्ति है कि पश्चिम के अनुसार हो जाने मात्र से हम आधुनिक हो सकते हैं, जिसका सीधा मतलब यह है कि हमारी सारी प्रगति अनुकरण से ही संभव है। स्वाधीन होने के बाद के इन वर्षों में पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से हमने जो विकास किया है, उसकी मूल धारणा और प्रकृति यही रही है। और विकास का जो स्वरूप उभरा है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि हम क्रमशः देश में एक ऐसा समाज बना रहे हैं जो देश की असंख्य जनता के जीवन से कटा हुआ और असंपृक्त है। वह अपने सामाजिक जीवन का ढांचा ऐसा खड़ा कर रहा है जिससे वह अपने को पश्चिमी उन्नत समाज का अंग मान सके। क्योंकि सारे देश को इस प्रकार रूपांतरित नहीं किया जा सकता है, इस वर्ग में हर उपाय से अपने विशेषाधिकारों की स्थिति को सुरक्षित रखने की भावना दृढ़ होती गई है।

अपनी स्थिति में सुरक्षा की भावना से प्रेरित और देश के व्यापक जनसमाज से कट कर यह वर्ग अपने को अकेलेपन की भावना से ग्रस्त पाता है, और यहां वह खोखली अंतर्राष्ट्रीयता का जामा ओढ़ने की चेष्टा करता है। इस भावना के आधार पर वह बौद्धिकों की एक अंतर्राष्ट्रीय बिरादरी की कल्पना करता है। वे यह मानने की चेष्टा करते हैं कि उन्हें इस समाज की सदस्यता प्राप्त है और इस रूप में पश्चिम की आधुनिकता से उनका गहरा संबंध है। उन्हें विश्वास है, शायद भ्रम है, कि वे अपनी सर्जनशीलता के सभी संदर्भ पश्चिम से प्राप्त कर सकते हैं। अविकसित और अवरुद्ध देश उनके लिए रचना की नई चुनौतियां प्रस्तुत करने के बजाय उन्हें रोकता और बांधता ही है। अतः यह वर्ग न देश की मौलिक सर्जन-शीलता आगे बढ़ा पाने में सक्षम है, और न अपने को वास्तविक रचनाशीलता से

संपृक्त कर पाने में सफल हो पाता है।

अधिकतर बौद्धिक और सारा बुद्धिजीवी समाज एक ओर आधुनिकता को पश्चिमीकरण के रूप में ग्रहण करता है, तो दूसरी ओर भारतीय परंपरा के जड़ संस्कार इनमें गहरे स्तर पर रक्षित हैं। जैसा कि पश्चिमी विचारकों ने भी इस ओर संकेत किया है, हमारे बौद्धिकों का अकेलेपन का भाव संस्कारों और परंपरा से अलग कट जाने के कारण नहीं, वरन जनता के जीवन से अपने को संबद्ध न कर पाने के कारण है। इस वर्ग में गहरे स्तर पर उच्चता और गौरव के जातीय संस्कार सुरक्षित हैं। स्वतः पश्चिम को चुनौती के रूप में न लेकर उससे समझौता कर लेने की भावना और समर्पण करने की प्रवृत्ति भारतीय प्रामाण्यवाद और समन्वयवाद का प्रभाव माने जा सकते हैं। चिंतन के क्षेत्र में साहसिकता के साथ अपने युग के यथार्थ के आमने-सामने होकर आगे बढ़ जाने की चेष्टा के स्थान पर पश्चिम के समर्थन की पग पग पर आकांक्षा इसी मनोवृत्ति का सूचक है। जिस प्रकार प्राचीन भारतीय संस्कृति से समर्थन और प्रमाण पाने की चेष्टा उन्नीसवीं सती से होती आ रही है, उसी प्रकार पश्चिम के समर्थन से अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने की प्रवृत्ति है। बौद्धिक स्तर पर दोनों में कोई अंतर नहीं है। हमारा बौद्धिक और बुद्धिजीवी समाज कथनी और करनी, चिंतन और आचरण, घर और बाहर के स्तर पर भारी विरोधाभासों में जीने का अभ्यस्त है। वह पश्चिम के विचारों को अपने परंपरित संस्कारों के साथ सहज ही खपा लेता है, उसी प्रकार जैसे वह पश्चिमी रहन-सहन के साथ अपने अनेकानेक रीति-रिवाजों और संस्कारों को परंपरा के स्तर पर निभा लेता है।

हम मध्य युग से अतिव्याप्तियों में सोचते, रहते और व्यवहार करते आए हैं। इसने हमारे चिंतन की प्रखरता और तेजस्विता को कुंठित कर दिया है। चिंतन सूक्ष्म अंतर—विभेदों और विश्लेषण पर बल देता है। वह सारी परिस्थिति को नए और निजी संदर्भों में देखने की चेष्टा करता है। समस्याओं और चुनौतियों को प्रति क्षण स्वीकारता हुआ नए समाधान और सिद्धांत खोजने में प्रवृत्त होता है। प्रमाणों के लिए अन्यत्र खोज चिंतन के इस गहरे दायित्व से बचने की चेष्टा है। इसी प्रकार दूसरों के समर्थन पर निर्भर रहना भी साहसिकता की कमी ही है। प्रखर और साहसिक चिंतन के अभाव में विरोधी विचारों को बिना परीक्षण के एक साथ ही स्वीकारने की आदत पड़ती है, और यह विचारों का समन्वयवाद आचरण का समझौतावाद ही है, बिना किसी गहरे आत्ममंथन और संघर्ष के हम पश्चिम-पूर्व, साम्यवाद-प्रजातंत्र, परंपरा-आधुनिकता और हिंसा-अहिंसा का समन्वय कर लेते हैं, वस्तुतः समझौता मात्र करना हम पर्याप्त मान लेते हैं। इस प्रकार अपनी पलायन तथा अवसरवादी मनोवृत्ति से यह वर्ग चिंतन और आचरण में विरोधों की अतिव्याप्ति में चक्कर लगाता रहता है।

कर्मवाद की भाग्यवादी परिणति और भक्ति की अंध-श्रद्धा तथा समर्पण में पर्यवसान हमारी आज की बौद्धिक परिस्थिति को अनेक रूपों में प्रभावित कर रहे हैं। कहने मात्र से काम चला लिया जाता है, करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, दायित्व से मुक्ति दूसरों पर उसे टाल कर मिल जाती है, चुनौतियां स्वीकारने की अपेक्षा विश्वास से काम चल जाता है। प्रतिभा, क्षमता और कार्य-कुशलता की अपेक्षा भाग्य रेखाओं का सहारा अधिक लिया जाता है और अवसर के अनुसार समझौता और समर्पण से सफलता के मार्ग पर बढ़ जाना नीतिकुशलता मानी जाती है। इस प्रकार यह वर्ग अपने युग के यथार्थ की समसामयिक चुनौतियों को झुठला कर अपने को बचा लेता है और अपने आत्मतोष के लिए सारे संसार के बौद्धिकों की समकक्षता में व्यापक मानवीय समस्याओं से जूझने का अभिनय करता है। एक ओर यह वर्ग अंतर्राष्ट्रीयता और विश्व नागरिकता, समाजवाद और मानवतावाद जैसे नारों से दूसरों को भ्रम में डालता है और दूसरी ओर संकुचित जातिवाद और भाईचारावाद से पग पग पर समझौता कर लेता है। वस्तुतः वह अपने चिंतन तथा आचरण के विरोध में जीने का आदी हो चुका है, उसके लिए इन सबकी सह-अस्तित्व की स्थिति है, जिन्हें वह एकसाथ निभा सकता है। उनके लिए सब मिला कर अवसर प्रमुख है, अन्य सभी सिद्धांत उसी के अनुसार निरूपित-व्याख्यायित होते रहे हैं, चाहे वह सह-अस्तित्व हो या पंचशील, निरपेक्ष तटस्थता हो या विश्वशांति।

देश की सर्जनात्मक प्रतिभा का गतिरोध : आज की परिस्थिति में हमारे बौद्धिक स्वकेंद्रित आत्मतुष्ट और परमुखापेक्षी हैं। उनकी सारी क्षमता अपने अस्तित्व की रक्षा की ओर प्रवृत्त है। स्वाधीनता आंदोलन के दौरान व्यापक राष्ट्रीय भावना के विरुद्ध जाना संभव नहीं था, यद्यपि इनमें से बहुत बड़ा समुदाय अपने संस्कारों में पश्चिमाभिमुख था और उसके सामने स्वाधीनता की सारी कल्पना इसी रूप में आती थी कि वह पश्चिमी समाज के सामने बराबरी का दावा पेश कर सकेगा और उसी के समान रहने-सहने की छूट पा जाएगा, देश के सारे जनजीवन और जनमानस की मुक्ति और उनके संचरण की प्रत्यक्ष कल्पना उसके मन में नहीं थी। जिन ऐतिहासिक प्रतिक्रियाओं से उसका व्यक्तित्व निर्मित हुआ है, उन्होंने उसकी अंतःप्रकृति को ऐसा संघटित किया है कि वह मात्र व्यक्ति बन सका है, स्वतःचालित, स्वनिर्मित और सर्जनात्मक व्यक्तित्व नहीं। वह यथार्थ अर्थात देश-काल-परिस्थिति से कटा हुआ व्यक्ति ऐसे आदर्शों और मूल्यों की हवाई कल्पना में जीता है और उससे अपने सर्जन की प्रेरणा ग्रहण करने की चेष्टा करता है, जो नितांत भ्रामक है। इस छलावे में वह अपनी व्यक्तिगत उन्नति अपने विकास और अपनी सुख-सुविधाओं तथा प्राप्त अवसरों को देश की उन्नति तथा सर्जनशीलता के रूप में स्वीकार कर लेता है।

इसका एक परिणाम यह है कि उसके मन में देश की समस्त उन्नति विकास और आधुनिकीकरण की कल्पना ऊपरी सतह के एक वर्ग अथवा समाज-विशेष में सीमित हो जाती है। आदर्शों की चर्चा करके संतोष ग्रहण कर लिया जाता है या यह भी कहा जा सकता है कि भ्रमपूर्ण वातावरण उत्पन्न किया जाता है। क्योंकि नेहरू और इस वर्ग में चिंतन, संस्कार और भावना के स्तर पर गहरी समता देखी जा सकती है, यही कारण है कि, जैसा कहा गया है, दोनों को एक दूसरे का समर्थन प्राप्त होता रहा है, और इन वर्षों में दोनों एक दूसरे की शक्ति के आधार रहे हैं। नेहरू की देशी-विदेशी, आर्थिक-औद्योगिक, राजनयिक-सांस्कृतिक, शैक्षणिक और भाषा संबंधी समस्त नीतियां और योजनाएं इस बौद्धिक परिस्थिति की न केवल उपज रही हैं, वरन उनको चलाने में भी इनका प्रमुख हाथ रहा है। एक प्रकार से ये नीतियां और योजनाएं उनकी अनुर्वर और असर्जनात्मक बौद्धिकता की परिचायक हैं।

यहां यह समझ लेना जरूरी है कि मौलिक चिंतन और सर्जनात्मक प्रक्रिया किसी अयथार्थ भूमि पर शुरू नहीं हो सकते। अंतर्राष्ट्रीयता के ऐसे सभी संदर्भों में जो देश की समस्याओं से सीधे विकसित नहीं हैं या अपने समाज की अविकसित और विजड़ित स्थिति से विमुख होकर अंतर्राष्ट्रीय बिरादरी में स्थान पाने की आकांक्षा से बौद्धिक परिस्थिति में किसी प्रकार की गतिशीलता की आशा नहीं की जा सकती। उसके लिए यथार्थ का सही साक्षात्कार आवश्यक है और अपने व्यापक समाज की संपृक्ति में ही यह संभव हो सकेगा। देशकाल में समाहित सामाजिक यथार्थ से बिना टकराहट पैदा किए रस, रोमांस और रहस्य के मानववाद की सृष्टि की जा सकती है, खोखली अंतर्राष्ट्रीयता तथा विश्व नागरिकता को जन्म दिया जा सकता है, पर किसी रचनात्मक यथार्थ दृष्टि का अनुसंधान नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि के अभाव में हमारी प्रगति की सारी कल्पना यूरोप के प्रतिरूप बन जाने में सार्थक जान पड़ती है और यदि हमारे समाज का एक स्तर पश्चिम की सुख-सुविधाओं को प्राप्त करता हुआ दिखाई देता है तो हमारा बुद्धिजीवी वर्ग उन्नति के प्रति संतोष प्रकट करता है।

ऐसी स्थिति में भारतीय बौद्धिकों की आधुनिकीकरण की दृष्टि दो सीमाओं में भटकती रहती है। एक ओर पश्चिम—प्राय: इंग्लैंड, इधर अमरीका और वामपंथी फैशन के रूप में रूस—का अनुकरण है। इसके अनुसार उधार लिए हुए कल-कारखानों के समान न केवल नीतियों और योजनाओं का आयात हो रहा है, वरन मूल्यदृष्टि भी आरोपित करने की चेष्टा की जा रही है। दूसरी ओर जब कहीं से कोई आघात लगता है, या विदेश में अथवा विदेशी के सामने अपनी प्रतिष्ठा का स्वांग भरना होता है, और जब कभी अपनी जनता को विभ्रम में डालने की आवश्यकता जान पड़ती है, भारत के प्राचीन गौरव का गान किया जाता है, महान

सांस्कृतिक परंपरा की दुहाई दी जाती है, समन्वयवाद आदि की चर्चा कर ली जाती है। ऐसी स्थिति में पुरातनवादियों से इनका अच्छा समझौता हो जाता है, पुरातनवादी प्रतिष्ठा पाकर खुश हो जाते हैं और आधुनिकतावादी इनका इस्तेमाल कर लेता है। प्रतिगामी पुनर्स्थापनावादियों का हमारी बौद्धिक परिस्थिति पर प्रभाव निषेधात्मक ही माना जा सकता है, क्योंकि उनकी सारी बौद्धिकता मानसिक जड़ता को जन्म देती है, इसी कारण राजनीति के क्षेत्र में अपना प्रभाव बढ़ा लेने के बावजूद बौद्धिकों पर उनका प्रभाव कम ही पड़ सका है।

देश के व्यापक और समग्र जीवन से बिना संपर्क स्थापित किए उसके यथार्थ से गहरी संसक्ति के अभाव में हमारा बौद्धिक देश के जीवन के विभिन्न पक्षों की मौलिक और वास्तविक चुनौतियों से भी अपरिचित है। समस्याओं की चुनौतियों से जो भागता है, वह उन्हें टाल सकता है, उनका सही हल नहीं ढूंढ़ सकता। टकराहट से स्थिति का ठीक एहसास होता है, उससे समस्या की ठीक पकड़ आती है और आदमी कोई रास्ता भी निकाल पाता है। टालने वाला बचाव तो कर सकता है पर रास्ता कभी नहीं निकाल सकता। दूसरों के दांवपेंच तभी काम आ सकते हैं, जब उनका इस्तेमाल स्थिति की मुठभेड़ के समय किया जाए। परिस्थिति को और उससे उत्पन्न समस्याओं को जब तक उनके सही संदर्भ से जोड़ कर नहीं देखा जाएगा, और जब तक सिद्धांतों की खोज इस केंद्रीय दृष्टि से संचालित नहीं होगी, देश की राजनीति, अर्थनीति, समाज, राजनय, संस्कृति अथवा भाषा आदि की किसी समस्या पर कोई मौलिक तथा रचनात्मक चिंतन संभव नहीं है।

अगर हम चाहें तो पचीस-तीस वर्षों से चलने वाली नीतियों और योजनाओं में इस स्थिति का सही नक्शा देख सकते हैं। सब एक दूसरे की शिकायत करते पाए जाते हैं। सरकार जनता की शिकायत करती है कि उसे जनता के उत्साहपूर्ण कर्म का सहयोग प्राप्त नहीं है, वह बौद्धिक की शिकायत भी करती है कि उनसे उसे सही दृष्टि नहीं मिलती। जनता की शिकायत है कि सरकार ने उसे निराशा के उस स्तर पर पहुंचा दिया है जहां उसकी सारी महत्वाकांक्षाएं मर चुकी हैं, बौद्धिकों की शिकायत है कि सरकार की नीतियों ने लगभग मध्यम वर्ग को समाप्त कर दिया है जो देश की समस्त बौद्धिक चेष्टा की आधारभूमि होता है। नेता नियोजकों को दोष देते हैं कि उनकी योजनाएं सैद्धांतिक अधिक व्यावहारिक कम रही हैं, नियोजक अधिकारियों को दोषी मानते हैं, क्योंकि उन्होंने योजनाओं को ठीक से कार्यान्वित नहीं किया। यह स्थिति स्वतः हमारे बौद्धिक गतिरोध की सूचक है। यह सही है कि हमारी अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय नीतियां और योजनाएं पग पग पर विफल हुई हैं, हम आगे बढ़ने में अशक्त होते गए हैं, कुंठित और अवरुद्ध हुए हैं। यह आए दिन विरोधियों के द्वारा ही नहीं, उनके चलाने वालों के द्वारा भी स्वीकार किया जाता है। जब कभी इस विकास को वास्तविक मानने की

कोशिश की जाती है, दृष्टि देश के व्यापक जीवन से हटा कर समाज के स्तर विशेष पर सीमित कर ली जाती है। और जो लोग ऐसा मानने की कोशिश करते हैं, वे देश के जनसमाज से अलग एक विशिष्ट समाज की कल्पना करते हैं, बाहर मानें भले ही नहीं।

आधुनिकता का सही संदर्भ : यह मानना भ्रामक है कि भारतीय संस्कृति के इस पुनर्संचरण के लिए अर्थात आज के आधुनिकीकरण के लिए हमारे देश पर अंगरेजी राज्य एक अनिवार्य स्थिति थी, पर पश्चिम से एशिया तथा अफ्रीका का संपर्क और उसकी आधुनिक संस्कृति का उन पर संघात इतिहास की गति की दिशा माने जा सकते हैं। अतः हम इस संपर्क और संघात को अपने लिए आधुनिक होने की प्रेरणा के रूप में स्वीकार कर सकते हैं, जबकि प्रेरणा को ग्रहण करने और उसे अपने अनुकूल दिशा देने का दायित्व हमारा है। सभी संस्कृतियां आत्मकेंद्रित होती हैं, अपने विस्तार में वे सदा केंद्र को दृढ़ और पुष्ट करती हैं। पश्चिम की आधुनिक दृष्टि अपने सांस्कृतिक संदर्भ से सदा संपृक्त और संबद्ध रही है। वह पश्चिम को केंद्र में मानकर उसकी आधुनिक चेतना को विकसित, समृद्ध और गतिशील करने की चेष्टा में संलग्न रही है। कोई भी शक्ति या तो विकास करती रहती है, अथवा स्थिर होते ही उसका ह्रास अनिवार्य है। इस दृष्टि से उसकी शक्ति को संगठित करने और विकास के लिए आधार पाने के लिए ही नहीं, वरन आगे चलकर अपनी संस्कृति को गतिशील रखने के लिए भी यूरोप के लिए एशिया और अफ्रीका को आधुनिकता की ओर प्रवृत्त करना अनिवार्य था। इसमें कोई शक नहीं कि पश्चिम यूरोप—और अब अमरीका भी—एशिया और अफ्रीका को आगे बढ़ाना चाहता है, प्रगति के मार्ग पर चलने के लिए सहारा भी देना चाहता है, और इस सबके लिए इन्हें आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में भी प्रवृत्त देखना चाहता है। पर यह भी सही है कि अपनी सारी प्रतिभा, योग्यता और क्षमता के साथ पश्चिम एक ओर यदि अपनी सर्जनशीलता को बनाए रखना चाहता है तो दूसरी ओर अपनी केंद्रीय स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए प्रयत्नशील है, यह उसके लिए एक ही प्रक्रिया के दो पक्ष भी हो सकते हैं।

यूरोप के लिए आधुनिकता एक विकासशील सर्जनात्मक प्रक्रिया रही है। इसे महायुद्धों के विवश संहार से उत्पन्न अस्तित्व की अवशता के रूप में, मूल्यों की संक्रांति के रूप में अथवा यांत्रिक जड़ता के रूप में मानना दृष्टिदोष है। यह तो यूरोप की सर्जनात्मक दृष्टि है जो उसके समस्त जीवन को गतिशील रख सकी है, और यह पश्चिमी संस्कृति को संक्रांति तथा गतिरोध की तमाम शक्तियों और परिस्थितियों से उबारने में संलग्न रचना-प्रक्रिया है। जीवन की बाह्य परिस्थितियों का युग की रचना-दृष्टि से गहरा संबंध होता है अतः पश्चिमी जीवन में कुंठा, अनास्था, विघटन, मूल्यहीनता आदि जो परिलक्षित होते रहे हैं, उनको आधुनिक

दृष्टि के रूप में न मान कर इस दृष्टि का यथार्थबोध जरूर माना जाना चाहिए। पर यह दृष्टि मूलतः रचना की है और इसलिए मूल्यबद्ध न होकर मूल्यों की स्रोत जरूर है।

जैसा कहा गया है, आधुनिकता को यूरोप के संदर्भ में भी सतत सर्जन कर्म में प्रवृत्त प्रक्रिया माना जा सकता है, पिछली मूल्यदृष्टियों से उसकी प्रमुख विशेषता है कि यह मूल्यों पर रुकती नहीं, उनसे बंधती भी नहीं, बल्कि यह निरंतर मूल्य-बोध की सर्जनशीलता है। इसे नैतिकताविहीन, मूल्यविहीन और अर्थविहीन कहने का संदर्भ भी यही है। उन्नीसवीं शती के यूरोप की मूल्योपलब्धियों ने आधुनिक यूरोप की भूमिका तैयार की है, पर उनके आधार पर आज की मूल्यदृष्टि का सही आकलन नहीं किया जा सकता। उन्नीसवीं शती में इतिहास की प्रक्रिया को समझने की चेष्टा की गई है, ईश्वर के स्थान पर मानव को मूल्यों के स्रोत के रूप में माना गया, सर्वत्र वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग स्वीकार किया गया, साथ ही यथार्थोन्मुखता की प्रवृत्ति भी परिलक्षित हुई। इन मूल्यों के आधार पर पश्चिम में खास प्रकार की जीवन पद्धतियां विकसित हुईं, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक ढांचे तैयार हुए। धर्म और नैतिकता के प्रति खास प्रकार की मनोवृत्ति बनी परंतु इन सबको आधुनिकता मानना और उनका अनुकरण करना भ्रामक है। स्वतः पश्चिम में ये मूल्य विकसित होते रहे हैं। इतिहास के प्रयोग की उन्नीसवीं शती की दृष्टि आज समसामयिकता के साथ संबद्ध हो गई है और आज हम वर्त-मान के परिप्रेक्ष्य में ही अतीत और भविष्य का ऐतिहासिक बोध ग्रहण करते हैं। मानववाद कल्पनालोक और भावावेश के दौर से गुजरकर मानवतावादी तटस्थता में बदल चुका है, व्यक्तिवादी भावुकता यथार्थ की वैयक्तिक असंपृक्त दृष्टि में पर्यवसित हो चुकी है। इसी प्रकार आज की वैज्ञानिकता पिछले विज्ञानवाद की यांत्रिकता के स्थान पर सर्जनात्मक है।

यहां यह स्पष्ट होना चाहिए कि हमारे लिए आधुनिकता का मतलब यह नहीं है कि हम कुछ वस्तुएं चाहते हैं, कुछ पद्धतियां चाहते हैं या किन्हीं मूल्यों को उधार लेने के आकांक्षी हैं। हमारे लिए आधुनिक होने का मतलब है कि हम गतिशील, मौलिक और सर्जनशील हों। इसलिए हमको अपनी निजी दृष्टि खोजनी होगी। यह आवश्यक है कि इसके लिए हमको पश्चिम की आधुनिकता का सही सर्जनात्मक और मूल्यबोधपरक रूप पहचानना होगा। इसके साथ अपनी यथार्थ स्थिति का सही एहसास भी जरूरी है। कोई प्रक्रिया स्थानांतरित नहीं की जा सकती, उसे तो नए सिरे से शुरू ही किया जा सकता है। यह अवश्य है कि किसी प्रक्रिया के सही संदर्भों और उसकी स्थिति के सही विश्लेषण से प्रक्रिया की आंतरिक प्रकृति का ज्ञान हो सके, पर उसका शुरू किया जाना इसी बात पर निर्भर करता है कि उसकी स्थिति और संदर्भों का सही मूल्यांकन क्या है?

अपनी स्थिति का सही विश्लेषण तभी हो सकता है, जब परंपरा और इतिहास का विवेचन किया जा सके। जिस प्रकार पश्चिम के इस्तेमाल के लिए यह जरूरी है कि हम उसके बारे में पूरी तरह से और गहरे ढंग से जानें, उसी तरह अपनी स्थिति को पहचानने के लिए परंपराओं के प्रवाह और प्रभाव को ठीक ठीक आंका जाए। पिछली शती से यूरोप के साथ हमारा जो संपर्क और संबंध रहा है, वह हमारे लिए इतिहास की प्रक्रिया का अंग ही है। उसकी सही पहचान और स्वरूप का विश्लेषण अपने समसामयिक यथार्थ को पूरी तरह ग्रहण करने के लिए जरूरी है। आज की वैज्ञानिक और प्राविधिक उन्नति के साथ देशगत और भौगोलिक सीमाएं सिमटती जा रही हैं। इसलिए समसामयिकता का बोध भी गहराता जा रहा है। इन सबके माध्यम से अपने निजी संदर्भ में यथार्थ और वर्तमान के अनुभव के साथ हमारी आधुनिकता अर्थात नई सर्जनशीलता की खोज संभव हो सकेगी।

अभिनवीकरण की सर्जन प्रक्रिया : देश के व्यापक जीवन को आज की कुंठा, अवशता, उत्साहहीनता, रूढ़िबद्धता, अवरुद्धता से मुक्त करने का एकमात्र उपाय है, आधुनिक होने की चेष्टा। सभी स्तरों और पक्षों से अभिनवीकरण तभी शुरू हो सकता है, जब देश को आधुनिक दृष्टि मिलेगी। इसका पहला अर्थ यही है कि हमको आज मौलिक रचनादृष्टि का अनुसंधान सबसे पहले करना है। भिन्न भिन्न युगों की रचनादृष्टि समान नहीं हो सकती। हर बार नए सिरे से उसे खोजना-पाना होगा, पिछले युगों में मनुष्य धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में भी भावोल्लास, भावावेश, भावतन्मयता से आगे बढ़ा है। इन युगों में उसके चिंतन-मनन की दार्शनिक, शास्त्रीय और बौद्धिक चेष्टाओं का अंततः उपयोग किसी भावोपलब्धि में ही देखा गया। मूल्यबोध की सारी संभावना इसी स्तर पर हो सकी। पर आज मनुष्य भावों को शासित और अनुवर्ती करने के लिए उनके प्रति तटस्थ दृष्टि विकसित कर रहा है। हम अनुभव के ऐसे क्षेत्र में प्रवेश करने जा रहे हैं, जहां बौद्धिक चेष्टा से ही यथार्थ परिस्थिति का सही बोध ग्रहण किया जाएगा। इस प्रकार यथार्थ को हम एक साथ कई पक्षों और आयामों से जोड़कर देखने में सक्षम होंगे और अनुभव को विस्तार के साथ अधिक जटिल रूप में ग्रहण कर सकेंगे। साथ ही तभी हम आधुनिक सर्जनशीलता में भी प्रवृत्त हो सकेंगे।

सर्जनपक्ष पर बल देने के साथ निजी व्यक्तित्व की खोज का अर्थ भी होगा सर्जनशील व्यक्तित्व की खोज। व्यक्तित्व का यह केंद्रबिंदु तभी पाया जा सकता है, जब वह अपने चतुर्दिक की बद्धताओं, जड़ताओं, संस्कारों से मुक्त होकर गतिवान हो। अतः निजता की ख़ोज व्यक्तित्व को व्यापक संदर्भों से गहरे रचनात्मक स्तर पर जोड़ेगी। उसके इस संकल्प के साथ देश, समाज, राष्ट्र की चेतना और

सर्जनशीलता की खोज अपने आप संबद्ध हो जाती है। इसी प्रकार अपनी नियति के प्रति कृतसंकल्प व्यक्तित्व सारे देश और समाज के प्रति एक स्तर पर प्रतिश्रुत और प्रतिबद्ध हो जाता है। पर आधुनिकता की प्रतिबद्धता किसी मूल्यदृष्टि की प्रतिबद्धता न होकर निरंतर सर्जन में प्रवृत्त रहने और मूल्यों की खोज में संलग्न होने की है। इस स्थिति में व्यक्ति और समाज का नया रिश्ता विकसित हो रहा है, वह समाज से आबद्ध न होकर संपृक्त और संसक्त है, अतः अपनी तटस्थता में वह क्रियाशील है, इसी प्रकार समाज व्यक्तित्वों से आक्रांत और अनुशासित न होकर उन्हें सर्जनशील व्यक्तित्वों की खोज के सभी संदर्भ प्रदान करेगा।

ऐसा नहीं है कि यह आधुनिकता व्यक्ति, समाज या राष्ट्र से बंधती है, यद्यपि जैसा कहा गया है दृष्टि होने के कारण रचना व्यक्तित्व से संपृक्त है। आगे चल कर देश-काल परिस्थिति से निरूपित तथा नियोजित होकर आधुनिकता की सर्जन दृष्टि मानवीय संचरण की नयी संभावनाओं को उन्मुक्त करती है। एक ओर यह राष्ट्रीय जीवन को मुक्त कर नई सर्जनशीलता से प्रेरित करेगी और दूसरी ओर इसी बिंदु से हम किसी व्यापक संकल्प को प्रतिफलित करने में अपना योग और उसके भविष्य को दिशा भी दे सकेंगे। आधुनिकता के संदर्भ में ऐसा कहना विरोधाभास लग सकता है, क्योंकि वह मूल्यों के स्थिरीकरण के प्रति अत्यंत सजग दृष्टि है तथा सर्जन की मौलिकता के साथ मूल्यों की निरंतर रचनाप्रक्रिया से ही संबद्ध है।

प्रश्न रह जाता है व्यावहारिक स्तर पर क्या करणीय है? या यों कह सकते हैं कि हमारी आधुनिकता की खोज की दिशा क्या होगी और वह किन पक्षों में गतिशील होगी। आज के जीवन और यथार्थ से हमको दार्शनिक दृष्टि विकसित करनी है, जिससे नई जीवनपद्धतियों, नई सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं और संस्थाओं को आधार मिल सके। पश्चिम से इन सबको उनकी दृष्टि के साथ नहीं ले सकते, लेने पर इनका विकास रचनात्मक और गत्यात्मक नहीं होगा, यह स्पष्ट है। आज पुरानी जीवनदृष्टि संदर्भ बदल जाने के कारण काम नहीं आ सकती, और पश्चिम से उधार लेकर कलम लगाने से भी काम नहीं चलेगा, उसे निजी संदर्भ से विकसित करना होगा।

हमारी पुरानी सामाजिक पद्धतियां मिटी नहीं हैं, पर उनकी गत्यात्मकता न जाने कब की समाप्त हो चुकी है। हम उनसे चिपटे हुए हैं और वे सर्जनात्मक संचरण की बाधाएं हैं। ऐसा जरूर है कि धार्मिक और सामाजिक मान्यताएं और पद्धतियां हमारे अंदर गहरे संस्कार रूप से वर्तमान है। इनमें हमारी परंपराओं का रूप विजड़ित हो चुका है। कभी जो गत्यात्मक था आज गति की बाधा है, अतः इनसे मुक्ति और नई मान्यताओं और व्यवस्थाओं की खोज अनवरत करनी है, फिर ऐसा भी होगा कि सर्जनप्रक्रिया के शुरू होने के साथ पुरानी परंपराओं में निहित

जीवनीशक्ति का उपयोग भी हो सकता है। पर वह हमारी चिंता का विषय नहीं है, वह स्वयंसिद्ध स्थिति है।

यूरोप की दो प्रमुख राजनीतिक व्यवस्थाएं भिन्न मूल्यदृष्टियों पर आधारित हमारे सामने जरूर हैं, और यूरोप में स्वतः इनसे आगे बढ़ने की प्रवृत्ति इधर रही है, भले ही सफलता न मिल सकी हो। पर अपने अपने विकासक्रम में दोनों ने एक दूसरे से कुछ ग्रहण किया है, यह स्पष्ट है। ऐसी स्थिति में हमारे लिए अपनी प्रकृति आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार राजनीति के क्षेत्र में भी एक व्यवस्था की खोज जरूरी है, यूरोप के परीक्षण हमारी सहायता कर सकते हैं, पर हमको सीधे मार्ग पर नहीं लगा सकते।

यूरोप के व्यापक आर्थिक सिद्धांतों और व्यवस्था के ऊपरी ढांचों से हमारा काम नहीं चल सकता। हमारे शास्त्री और नियोजक जितना इनमें देश की योजनाओं को फिट करने की चेष्टा करेंगे, विफलता ही हाथ आने वाली है। आर्थिक जीवन पूरी जीवनपद्धति से अलग नहीं होता। इसलिए हमको अपने निजी संदर्भ में, अपने संस्कार और परंपरा को दृष्टि में रखते हुए, आर्थिक सिद्धांतों की खोज करनी होगी। ऐसा नहीं कि यह खोज समझौतावादी दृष्टि से प्रेरित होगी, वरन विद्रोह के आधार पर विकसित हो सकती है। ऐसे आर्थिक सिद्धांतों के आधार पर ही देश की योजनाएं बनाई जानी चाहिए और सफलता की आशा करनी चाहिए।

प्रायः यह मान लिया जाता है कि विज्ञान और प्रविधि सार्वदेशिक है, इस अर्थ में समस्त ज्ञान ही सार्वभौम होता है। पर जिस प्रकार सार्वभौम और सार्वकालिक होकर भी ज्ञान अपने निजी संदर्भों से संपर्कित होकर ही सर्जनात्मक होता है, और एक सीमा के बाद उसकी संभावनाएं समाप्त हो जाती हैं, उसी प्रकार विज्ञान की सर्जनात्मक दृष्टि को अपने संदर्भों से ग्रहण किया जा सकता है। ऐसा न होने पर तो अत्यधिक उन्नत राष्ट्रों की तुलना में कोई देश आगे बढ़ने की बात तो दूर कभी समकक्ष होने की आशा भी नहीं कर सकता। रूस और जापान ने यह करके दिखा दिया है, और हमारे लिए भी वही मार्ग है। प्रविधि का नियोजन देश की आवश्यकता और व्यापक हित से प्रेरित होने पर ही सार्थक माना जाएगा। अतः इन दोनों को सर्जनात्मक स्तर पर अपनी जीवनदृष्टि से संबद्ध करके समुपयोजित करना होगा।

भाषा और व्यक्तित्व की स्वाधीनता

कई बार जरूरी और महत्व के सवालों के ऐसे पहलुओं पर सतही जोर दिया जाने लगता है, जिससे हमारा ध्यान गलत दिशाओं में चला जाता है और हम समस्या की गहराइयों से बिना परिचित हुए उलटे तथा भ्रामक नतीजे निकालने लगते हैं। ऐसा अनजाने भी हो सकता है, पर ऐसी हालत में गलती पकड़ी जाने की संभावना अधिक रहती है, क्योंकि अनजाने गलत रास्ते वाला शंकित और सतर्क रहेगा, फिर उसके सामने लक्ष्य जितना साफ तथा निश्चित होगा उतना ही लक्ष्य के गहरे संदर्भों से जुड़े रहना भी संभव हो सकेगा और आगे-पीछे अपनी गलती का अहसास भी कर पाना आसान होगा। पर जहां जानबूझ कर ये जोर दिए जाते हैं, समझ-बूझ कर एक वर्ग अपने निहित स्वार्थों की दृष्टि से हमारा ध्यान गलत दिशाओं में मोड़ देता है, वहां समस्या के मौलिक रूप से कटते जाना और भ्रामक नतीजों की उलझन में फंसते जाना ही स्वाभाविक है। उलझन के जंगल में फंसा कर शिकार खेलना इस वर्ग का उद्देश्य है।

किसी शिक्षित, जागरूक देश में यह संभव नहीं है। वहां राष्ट्रीय और केंद्रीय समस्याओं के बारे में गहरे संदर्भ तथा व्यापक सूत्र ऐसे उजागर हो चुके होते हैं कि उनसे कोई वर्ग या दल अलग हट कर सोच-समझ नहीं सकता और सोचने पर सार्थक ढंग से राष्ट्रीय जीवन में कार्यशील नहीं हो सकता। पर हमारे अशिक्षित, अवरुद्ध तथा अविकसित देशों की स्थिति भिन्न है। इन देशों ने अभी तक अपनी राष्ट्रीयता का ठीक रूप निरूपित नहीं किया है और न अब तक वे अपने व्यक्तित्व की सही खोज ही कर सके हैं। इसके अतिरिक्त औपनिवेशिक पराधीनता और यूरोप की सांस्कृतिक दासता के युग में इन देशों में ऐसे वर्ग संघटित और विकसित हुए हैं जो शिक्षा-दीक्षा, विचार-संस्कार में प्रगतिशील होकर भी पश्चिमी-संस्कृति और चिंतन के ऐसे अनुवर्ती हो चुके हैं कि वे अपने देश की समस्याओं पर गहरे और मौलिक राष्ट्रीय संदर्भ में सोचने में असमर्थ हो गए हैं। उनकी सारी विकास-दृष्टि पश्चिम के अनुकरण पर केंद्रित है, अत: उन्होंने एक कृत्रिम व्यक्तित्व को ओढ़ लिया है और इसी आधार पर अपने देश के नए व्यक्तित्व का निर्माण करना चाहते हैं। पर जिस प्रकार किसी व्यक्ति का उसी प्रकार किसी राष्ट्र का व्यक्तित्व उसकी अंत:प्रकृति से विकसित होता है, ऊपर से आरोपित नहीं होता। परिणाम स्पष्ट है कि इस प्रयत्न में यह वर्ग संघटित और एकत्र होकर अपने निहित स्वार्थ को साधने के लिए सारे राष्ट्रीय जीवन को अनेक भ्रमों में उलझाता और फंसाता है।

ऐसे अनेक सवालों में भाषा की समस्या भी है। हमारे देश में उन्नीसवीं सदी

से लेकर देश के स्वतंत्र होने के पहले तक हमारे सभी जाने-माने राष्ट्रीय नेताओं के दिमाग में यह सवाल सीधे और सही रूप में था। उनकी स्वाधीनता की परिकल्पना में भाषा की स्वाधीनता शामिल थी। अंगरेजी पर अधिकार रखने पर भी उन्होंने अपने स्वाधीन व्यक्तित्व तथा अभिव्यक्ति की भाषा अंगरेजी को कभी नहीं माना। देश के विशाल जनजीवन से बंधे हुए नेताओं को साफ दीखता था कि इस समाज की विशाल राशि को गतिशील, सक्रिय और सर्जनशील बनाने का एक मात्र मतलब है कि उनकी भाषाओं की अवरुद्ध धाराओं को मुक्त प्रपातों में प्रवाहित कर दिया जाए, इस शक्ति और विद्युत के बिना कुछ भी संभव नहीं है। उसके मन में देश की एकता के लिए अंगरेजी की अनिवार्यता का एहसास नहीं हुआ, वरन एक देशी भाषा की कल्पना बार बार उभरी और प्रत्यक्ष होती गई थी। सारे देश को, देश के करोड़ों व्यक्तियों को ज्ञान-विज्ञान में दीक्षित करने की उनकी योजना भी साफ थी, शिक्षा का दृष्टिकोण भी उनका उलझा हुआ नहीं था।

पर स्वतंत्रता पाने के बाद का नक्शा बदला है, बदलता गया है। नेहरू युग में ऐसे नेता पीछे पड़ते गए जो देश की स्वाधीनता की कल्पना देश की करोड़ों जनता के साथ करते थे, उनके सामने स्वाधीनता का दृश्य गरीबी, अशिक्षा और जड़ता की चुनौती को लेकर उपस्थित होता था। उसके स्थान पर धीरे धीरे वह वर्ग उभरता गया, शक्तिशाली होता गया जो पश्चिम के जीवन को किसी न किसी प्रकार अपना लेने के लिए उत्सुक था और अपनी उन्नति और विकास के मार्ग को, जिसे वह सारे देश के विकास का मार्ग भी मान लेता है, जल्दी तथा पगडंडी वाले रास्ते से पार कर लेना चाहता था। इस बेचैनी, व्यग्रता तथा उत्सुकता में उसने हमारे राष्ट्रीय जीवन को विभ्रम और भ्रमजाल में फंसाया है। ऐसा उसने बराबर राष्ट्रीय समस्याओं और सवालों के गलत और सतही पहलुओं पर बल दे देकर किया है। यहां यह बात किसी आदर्श अथवा उग्र राष्ट्रवाद की दृष्टि से नहीं कही गई है, वरन कठोर यथार्थ की चुनौती के रूप में ही मानी जानी चाहिए। थोड़ी देर के लिए हम यह मान लें कि पश्चिमी विकसित राष्ट्रों का जीवन अपना लेना ही हमारे लिए श्रेयस्कर है, तो भी हम उनके मार्ग पर चलकर, उनका मात्र अनुकरण करके उनके भौतिक स्तर को पा नहीं सकते, उनके सांस्कृतिक स्तर पर भाईचारे की बात तो कोरी विडंबना है। आज की बदली हुई सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थिति में स्वत: पश्चिम के राष्ट्रों के लिए अपने पिछले रास्ते पर चल कर विकास कर पाना संभव नहीं था।

इस वर्ग ने भाषा के सवाल को बिलकुल उलट दिया है: अंगरेजी भाषा ने हमको स्वाधीनता का पाठ पढ़ाया है, देश और राष्ट्र के रूप में संघटित किया है, सारी राष्ट्रीय भावना के विकास में उसी का हाथ रहा है। हमारा संघर्ष अंगरेजों

से था अंगरेजी से नहीं। यह आज भी हमारी एकता का सूत्र है, उससे छूटते ही हम छिन्न-भिन्न हो जाएंगे, हमारे पास आपसी विचार-विनिमय का क्या साधन रहेगा ? हम संसार के ज्ञान-विज्ञान से वंचित रह जाएंगे, हमारे लिए तो यही एक खिड़की है। इस प्रकार की तर्कपद्धति के नीचे यह भी छिपे या खुले ढंग से कहा जाता है कि भारतीय भाषाएं हमको विभक्त करती हैं, वे अविकसित हैं और हमको विकास के मार्ग में बढ़ने में बाधित करती हैं, कोई केंद्रीय भाषा नहीं है, यदि हिंदी को माना गया तो वह भाषा का साम्राज्यवाद है। इन तथा ऐसे ही अनेक तर्कों के पीछे क्या मनोवृत्ति है, समझना कठिन नही हैं, पर पिछले तीस-बत्तीस वर्षों में उपर्युक्त वर्ग का ऐसा दबदबा छा गया है और उन्होंने राजनीति, शिक्षा, पत्रकारिता आदि के अधिकार क्षेत्रों पर ऐसा कब्जा कर लिया है कि सारे देश में उनके द्वारा फैलाए गए भ्रमजाल के बीच इस मनोवृत्ति को पहचान पाना कठिन होता गया है।

इन तर्क-वितर्कों में पड़ना बेकार है, क्योंकि इस वर्ग के पास तर्क कभी नहीं रहे, इसने क्रमशः अपनी शक्ति के विस्तार के साथ बड़े गहरे ढंग से और कुशलतापूर्वक धीरे धीरे इन पक्षों पर बल दिया है, साथ ही तर्क से अपनी बात सिद्ध करने के बजाय अपने स्थान, पद, विशेषज्ञता तथा अंगरेजी पत्रों के माध्यम से अनुकूल वातावरण निर्माण किया है। आज यह वातावरण ऐसा बन चुका है कि इनका यह सारा भ्रमजाल ही यथार्थ लगने लगा है। उसके खिलाफ सबल तर्क, वैज्ञानिक प्रमाण तथा देश के स्वाधीनता आंदोलन के बड़े से बड़े नेताओं का साक्ष्य सब इस वातावरण में व्यर्थ होते जान पड़ते हैं। नेहरू युग में जिन प्रतिगामी, प्रच्छन्न साम्राज्यवादी, अंतर्राष्ट्रीयता के नाम पर राष्ट्रविरोधी तथा वर्गपरस्त नीतियों तथा शक्तियों का विकास हुआ है; वे जिनके प्रोत्साहन का परिणाम हैं उनके द्वारा ही अपने पक्ष में इस्तेमाल की जा रही हैं। ये शक्तियां राष्ट्र की एकता और संघटन के विरुद्ध प्रमाणित की जाती हैं, फिर तर्क दिया जाता है कि इस विघटन से रक्षा के लिए उस सब की रक्षा होनी चाहिए जिसका प्रतिनिधित्व वास्तव में यह वर्ग करता है। आज यह कहने का न महत्व है और न आवश्यकता कि इस देश में अंगरेजी राज्य ही एकमात्र उपाय है, जैसा इस वर्ग के अधिकांश लोग स्वाधीनता के पहले के दिनों में कहा करते थे, क्योंकि यह स्वाधीनता एकमात्र उनके हितों के सुरक्षित रखने के लिए प्रयुक्त होती रही है। आज इस देश की यह अजब स्थिति है कि स्वयंसिद्ध को सिद्ध करने की कोशिश करनी पड़ती है और जो कभी साम्राज्य के सुदृढ़ आधार थे, आज देश के स्वाधीनता संग्राम के पिछले बड़े से बड़े सेनानी को प्रजातंत्र और देश की नीति की शिक्षा देने का साहस करते हैं।

जो देश को एक इकाई के रूप में देखते हैं, देश के करोड़ों करोड़ों लोगों के

सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन के सारे सवालों को एक साथ रख कर देखते हैं और विकास की किसी योजना के अंतर्गत इस समस्त जन-संख्या को समेट लेते हैं, उनकी दृष्टि अलग है, उनकी सोचने की पद्धति भिन्न है। वे देश की स्वाधीनता का अर्थ इन्हीं व्यापक संदर्भों से ग्रहण करते हैं, उनके लिए वह मात्र घटना नहीं है, स्थिति नहीं है, देश के समग्र जीवन में प्रत्यक्ष होने की प्रक्रिया है। स्वाधीनता कोई घटना इस अर्थ में नहीं है कि उसका उल्लेख करके जन समाज को बताया जाता रहे कि हम स्वाधीन हो गए हैं, वह ऐसी स्थिति भी नहीं है जिसके बारे में जनसमाज को बराबर बताए जाने की आवश्यकता हो। पर इन बत्तीस वर्षों में जिनके हाथ में शासन के ही नहीं राष्ट्र की संपूर्ण व्यवस्था के सूत्र रहे हैं, उन्होंने इतना ही कार्य किया है। जनता को यही बताया जाता रहा है कि उसको स्वाधीनता प्राप्त हुई है और हम अब स्वाधीन हैं। पर जो जनता अपने जीवन में इसकी प्रक्रिया का कोई एहसास नहीं कर पाती, उसके लिए स्वा-धीनता का क्या अर्थ हो सकता है ?

आज हमारे देश की अद्भुत स्थिति है ! हमारे यहां दो अलग वर्ग हो गए हैं, एक दस लाख-पचास लाख का वर्ग जो देश की स्वाधीनता का ठेकेदार जैसा है, वह ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा, योजना, शासन, विकास, राजनीति, अर्थनीति आदि राष्ट्रीय जीवन के सभी पक्षों तथा क्षेत्रों का अधिकारी वर्ग है, सब पर उसका अधि-कार है। कहा जाएगा कि किसी भी देश में राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों का नेतृत्व वहां का शिक्षित और बौद्धिक वर्ग ही तो करेगा। पर यह वर्ग सारे देश के समाज का अंग ही होना चाहिए, समस्त राष्ट्रीय जीवन के संदर्भों से उसे जुड़ा होना चाहिए। प्रश्न है कि हमारे देश का यह वर्ग क्या उस बृहत्तर जनसमाज का अंग है, अपने को समझता है ? स्थिति इसके विपरीत है, करोड़ों जनसंख्या वाला जन-समाज इनको अपना नहीं कह सकता और न ये उसके अंग के रूप में कभी अपने को अनुभव कर पाते हैं। प्रायः हमारा बौद्धिक वर्ग तथा बहुत अंशों में शिक्षित बुद्धिजीवी समाज इस विशाल जनसमाज की गरीबी, अशिक्षा, जड़ता, अवरुद्धता को अपने से अलग करके सोचने का अभ्यासी है। उसके बारे में जब सोचते हैं तो इस प्रकार जैसे उसकी समस्याएं कुछ अलग हैं और उनका समाधान इसी प्रकार उन्हें खोजना है। इन बौद्धिकों को ऐसा नहीं लगता कि हम उस समाज से संपृक्त हैं और उनकी समस्याएं हमारी अपनी हैं, इस समाज के साथ हम भी अशिक्षित हैं, हम भी अभी अविकसित हैं, हम भी अवरुद्ध हैं। रास्ता उस समाज के लिए ही नहीं हमें अपने लिए निकालना होगा।

यदि इस प्रकार दो खंडों में विभक्त हमारा देश न होता तो यह सहज स्थिति होती। हमारा बौद्धिक वर्ग (उससे लगा हुआ और बुद्धिजीवी समाज) अपने जन-समाज के उद्धार के बारे में इस प्रकार सोचता कि यह उसकी अपनी मुक्ति का

सवाल है। आज ऐसा नहीं है, निदान के बारे में ऐसे सोचा जाता है कि किसी दूसरे का इलाज करना, दूसरे के स्वास्थ्य की चिंता की जा रही है। उसका मूल कारण है कि अभी तक इस छोटे खंड ने देश के साथ एकमेक होकर कुछ भी सोचना-समझना तथा अनुभव करना शुरू नही किया हैं और विशाल खंड को वह क्षमता ही प्राप्त नहीं हो सकी है जिससे स्वाधीनता का अनुभव होता है अथवा उसकी प्रक्रिया शुरू होती। यदि शिक्षित तथा बौद्धिक खंड की सारी जागरूकता तथा सक्रियता संदर्भहीन और दिशाहीन है तो विशाल जनसमाज की सारी चेतना निष्क्रिय और विजड़ित है, दोनों एक दूसरे से निरपेक्ष हैं, एक अपनी बौद्धिक तथा मानसिक दासता के कारण और दूसरा अपनी विवशता में। दोनों के बीच खाई है, भाषा की, संस्कार की और विभाजित व्यक्तित्व की।

आज कोई भी देश अपनी स्वाधीनता का अर्थ मात्र भौतिक घटना या स्थिति के रूप में मान कर नहीं चल सकता, क्योंकि इसका कोई खास माने नहीं है। इसी प्रकार जनसंख्या के आधार पर किसी देश की शक्ति तथा सामर्थ्य का अनुमान नहीं लगाया जा सकता है, और विकास की संभावनाओं पर विचार भी केवल भौतिक तथा शारीरिक शक्ति तथा संपत्ति के उपयोग के आधार पर नहीं किया जा सकता। बिना संपूर्ण व्यक्तित्व की खोज के, उसकी स्वाधीनता के सक्रिय अनुभव के और उसको भविष्य की संभावित दिशाओं में नियोजित किए कोई भी राष्ट्र आज न तो स्वाधीन कहला सकता है और न विकास के मार्ग पर एक कदम आगे बढ़ सकता है। फिर किसी देश के व्यक्तित्व की खोज क्या है? प्रारंभ में जिस भ्रमजाल की चर्चा की गई है, यह उसीका नतीजा है कि आज हमको अपने देश के व्यक्तित्व के बारे में भी संशय है। कभी कभी तो इसके परिणामस्वरूप ऐसी भयानक चर्चाएं भी शिक्षित समाज में सुनने को मिल जाती हैं कि अपने देश में प्रजातांत्रिक प्रणाली की विडंबना का कारण बालिग मताधिकार है अथवा शिक्षा के स्तर के गिरने का कारण सभी वर्गों तथा क्षेत्रों के लिए शिक्षा के द्वार खोल देना है। इस प्रकार के कथनों के पीछे क्या मनोवृत्ति है, उसका विश्लेषण किए बिना यहां इतना कहना पर्याप्त है कि किसी भी स्वाधीन चिंतन करने वाले समाज में इस प्रकार के विचारों की झलक नहीं मिल सकती थी।

इन तथा ऐसी ही अनेक विकृत तथा अस्वस्थ चिंतन पद्धतियों के विकसित होने का मूल कारण है कि हम चिंतन के क्षेत्र में अभी स्वाधीन हुए ही नहीं हैं। वरन जैसा कहा गया है इन स्वाधीनता प्राप्ति के वर्षों में क्रमशः यह सारा क्षेत्र उन नेताओं के हाथ चला गया है जो देश के सारे संदर्भों तथा उसके मूल व्यक्तित्व से कटे हुए हैं और अंगरेजी भाषा तथा संस्कार से जुड़े हुए हैं। दूसरे ऐसे शिक्षित वर्ग की यहां जानबूझ कर चर्चा नहीं की गई है जो पश्चिम के पिछली कई शताब्दियों के इतिहास को नकार कर भारत के अतीत से चिपका रहना चाहता है। यह वर्ग

आज के देश से उतना ही कटा हुआ है जितना पिछला वर्ग, यह अवश्य है कि इन वर्षों प्रयत्न करके भी इस वर्ग को राष्ट्रीय जीवन में महत्वपूर्ण स्थान नहीं मिल सका है। यह अलग बात है प्रभुतासंपन्न वर्ग देश-विदेश में अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए इस वर्ग का सहारा भी ले लेता है या इसका उपयोग कर लेना है।

इस प्रकार जो वर्ग सजग और प्रबुद्ध है वह अपने वर्गगत व्यक्तित्व से आगे सोचने में असमर्थ है और देश का व्यापक व्यक्तित्व अभी अपनी उद्‌बोधन की प्रक्रिया को शुरू भी नहीं कर सका है। अंगरेजों की डेढ़ शताब्दी की गहरी नीति ने देश को भौगोलिक अर्थ में ही नहीं विभक्त किया है, जिसकी चर्चा प्रायः की जाती है, वरन उसके व्यवितत्व को विभक्त करने में सर्वाधिक सफलता प्राप्त की है। और यह हुआ है अंगरेजी भाषा के माध्यम से। इस भाषा के माध्यम से पश्चिम की आधुनिक नवीन तथा समर्थ चिंतनपद्धति के संपर्क में हम आ सके, उससे हमें नए स्वप्न, नई संभावनाओं तथा नई आकांक्षाओं की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा भी मिली। पर यहीं तक इस भाषा का सहयोग हमारे लिए वांछित है, क्योंकि भाषामात्र माध्यम नहीं होती, इतना जानने वाला भाषा तथा व्यक्तित्व दोनों की मौलिक प्रकृति से अपरिचित है। भाषा और व्यक्तित्व अभिन्न होते हैं, अपने संपूर्ण तथा संघटित रूप में यहां व्यक्तित्व का भाव है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति से बातचीत करके बहुत कुछ सीखा जा सकता है, उसके चिंतन-मनन से प्रेरणा प्राप्त की जा सकती है, उसके व्यक्तित्व से एक सीमा तक प्रभाव भी ग्रहण किया जा सकता है। पर इसके आगे व्यक्तित्व को स्वीकारने का मतलब होगा अपने व्यक्तित्व को कुंठित कर देना, अनुवर्ती बना देना और अपनी समस्त मौलिक संभावनाओं को समाप्त कर देना। अपनी प्रतिभा तथा अपनी मौलिकता को अभिव्यक्ति देने के लिए तो निजी व्यक्तित्व की खोज करनी होगी। प्रत्येक मौलिक व्यक्ति का चिंतन जिस सीमा तक स्वतंत्र, मौलिक और नई दिशाओं की ओर उन्मुख होगा, उसी सीमा तक उसकी भाषा भी नई होगी, क्योंकि व्यक्तित्व की खोज भाषा की खोज है।

यही बात देश के बारे में सही है। देश के व्यक्तित्व की खोज का मतलब है उसकी भाषा की खोज। जिन देशों के नेताओं के सामने देश की स्वाधीनता के साथ देश के व्यक्तित्व की कल्पना प्रत्यक्ष रही है, उनके मन में भाषा के बारे में कहीं कोई भ्रम नहीं था; वह उनके लिए समस्या कभी नहीं रही। प्रायः कहा जाता है कि हमारा देश अनेक भाषाओं में विभक्त है और इस संबंध में भाषा-वैज्ञानिकों ने भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के सिलसिले में हमारी इस भावना को अधिकाधिक बल दिया है। यह अध्ययन कितना ही वैज्ञानिक क्यों न हो भाषा मानवीय तत्व ही नहीं मानवीय प्रक्रिया है, अतः उसके बारे में मानवीय गहरी परिस्थितियों पर व्यापक रूप से विचार किए बिना कुछ नहीं कहा जा सकता। अगर हमारा देश

एक देश है, उसके व्यक्तित्व के गहरे सूत्र कहीं एक दूसरे से बद्ध हैं, उसकी सांस्कृतिक चेतना में मौलिक एकता की स्थिति वर्तमान है, तो अनिवार्यत: यह मानना पड़ेगा कि हमारे देश की समस्त भाषाओं में गहरी संपृक्ति है। भाषा-विज्ञान उन्हें किसी भी कुल या परिवार का निरूपित करे, पर उनमें एक ही व्यक्तित्व की अंतर्वर्ती धारा मिलेगी। यह ऊपर की दृष्टि है जो इन भाषाओं तथा इन प्रदेशों को अलग इकाइयों में विभक्त करती है। कहा जाता है कि अंगरेजी ने देश को एक राष्ट्र की भावना से बांधा है, यह आंशिक रूप से ठीक भी हो तो इससे बड़ा सत्य यह है कि भारतीय अंगरेजी मनोवृत्ति देश की इस अंतर्वर्ती धारा को समझने, पहचानने और खोजने में असमर्थ है, जो सारे जनजीवन को एकरस प्लावित करती है। यह उसी दृष्टि की सीमा है जो केवल संस्कृत भाषा तथा साहित्य को हमारे देश के सांस्कृतिक जीवन को बांधने का सूत्र मानती है, क्योंकि उसने यह पूर्वस्वीकृत तथ्य मान लिया है कि अपनी प्रादेशिक संस्कृति तथा भाषा की दृष्टि से यह देश किसी स्तर पर एक इकाई और सुसंबद्ध नहीं है।

संस्कृत भाषा ने शिक्षित वर्ग को बौद्धिक स्तर पर संस्कृति के अनेक तत्वों में बांधा है और इस प्रकार सारे देश के युग युग के सांस्कृतिक संचरण को माध्यम तथा गति प्रदान किया है। पर यह सारी वस्तुस्थिति का एक पक्ष मात्र है। इस देश का सारा जनमानस किसी समान धरातल पर प्रवाहित होता रहा है, यही कारण है इस देश की लोकसंस्कृति का व्यापक रूप समान रहा है। अपनी क्षेत्रीय विभिन्नताओं और विशिष्टताओं के बावजूद सारे देश का लोकजीवन, धर्म, दर्शन, विश्वास, अंधविश्वास, नैतिक आचरण, सामाजिक मान्यता, रीति-रिवाज, विधि-निषेध, खान-पान के समान स्तर पर स्थित है। यह अवश्य है कि देश की व्यापकता के समान ही यह समानता व्यापक रूपों में ग्रहण की जा सकती है। और इस समानता के स्तर पर देश के एक संघटित व्यक्तित्व की प्रत्यक्ष झलक भी मिलती है। ऊपर से देखने वाली दृष्टि अंतर तथा विभेदों को ही पकड़ती है, अंगरेजी के माध्यम से प्राप्त हमारी यह दृष्टि ऊपरी है। कुछ अंगरेजी नीति के कारण और पश्चिमी दृष्टि की अपनी सीमा के कारण भी हम अपने देश के इस अविभक्त तथा संघटित व्यक्तित्व को समझने तथा ग्रहण कर पाने में गलती करते हैं। लोकभाषाओं, लोकसाहित्यों, लोकसंस्कृतियों के आधार पर हम सहज ही इस व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति को देख सकते हैं, यह नीचे से, अंदर से देखने की दृष्टि है। इस देश का संस्कार एक है, इस देश के मानस का संघटन एक है, इस देश के सोचने-समझने का ढंग एक है, अतः इस देश का व्यक्तित्व एक है। विभिन्न प्रदेशों में उसी एक केंद्रीय व्यक्तित्व की विभिन्न अभिव्यक्तियां देखी जा सकती हैं।

भाषा व्यक्तित्व का रूप है, या व्यक्तित्व भाषा की अभिव्यक्ति है। अतः भारतीय भाषाओं के अंतर पर बल देना समस्या का गलत परिप्रेक्ष्य है या भ्रम

उत्पन्न करने की कोशिश है। एक ही परिवार की भाषाओं में संस्कार, चिंतन, परिकल्पनाओं का इतना बड़ा अंतर हो सकता है कि उनकी दूरी अलंघ्य हो। भिन्न व्यक्तित्वों की अभिव्यक्ति के रूप में ये भाषाएं अधिक दूर तथा अलग हो सकती हैं। जबकि दो भिन्न परिवारों की भाषाएं (भाषाविज्ञान की दृष्टि से) एक ही व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के रूप में अत्यधिक निकट आ सकती हैं। भाषा का ढांचा या उसकी बाह्य रचना उसकी आंतरिक अभिव्यक्ति तथा रचना नहीं है, इस अंतर को ध्यान में रखना आवश्यक है। आंतरिक अभिव्यक्ति तथा रचना व्यक्तित्व का पक्ष है, अतः उसमें चिंतन, विचार, भाव, संस्कार और परिकल्पनाएं रूप ग्रहण करती हैं। यदि इस स्तर पर विभिन्न भाषाओं में समानता तथा एक-रूपता है तो बाहरी ढांचा और रचना का अंतर उनके अंतर्वर्ती संबंधों तथा प्रेष-णीयता को खंडित नहीं कर सकता। दक्षिण की भाषाओं से उत्तर की भाषाओं का यह अंतर ऊपरी ढांचे का है, बाह्य रचना का है, पर जैसा कहा गया है व्यक्तित्व की अभिन्नता सर्वत्र देखी जा सकती है। उत्तर की भाषाओं में इस प्रकार का अंतर भी नहीं है, अतः उत्तर की भाषाओं की अभिव्यक्ति में इतना व्यवधान भी नहीं है।

आज भारतीय भाषाओं की स्वाधीनता की घोषणा में बल नहीं रह गया है, वह मात्र चर्चा रह गई है। अंगरेजी के स्थान पर भारतीय भाषाओं की प्रतिष्ठा की यह चर्चा अब इस प्रकार की जाती है जैसे यह कोई मौलिक बात नहीं है और कभी कभी तो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इसे भावुकता के साथ जोड़ कर टालने या स्थगित करने के 'विवेकपूर्ण' प्रस्ताव किए जाते हैं। इसके पीछे नीति-कुशल तथा आत्मकेंद्रित वह दृष्टि है जिसकी चर्चा ऊपर की गई है। हम यदि इस दृष्टि की तर्कपद्धति को गहराई से देखें तो उसके पीछे भयानक मान्यताएं हैं। इस दृष्टि के लोग मान कर चलते हैं (यह मानना प्रत्यक्ष घोषणा के रूप में नहीं है) कि इस देश की कोई आंतरिक इकाई नहीं है, इसका कोई अपना व्यक्तित्व नहीं है। यह एकता विदेशी राज्य में, विदेशी भाषा के माध्यम से और पश्चिमी संस्कृति की प्रेरणा का मात्र परिणाम है। आज हम देश को राजनीतिक, आर्थिक तथा औद्योगिक एकता के जिस ढांचे में बांधना चाहते हैं, उसके लिए बाहरी प्रयत्न ही संभव और पर्याप्त हैं। अतः देश के विकास का सारा दायित्व उन लोगों का है जो अंगरेजी के माध्यम से पश्चिम की शिक्षा, संस्कार, संस्कृति, ज्ञान और विज्ञान, प्रविधि, उद्योग, व्यवसाय को ग्रहण कर सके हैं। उनको लगता है कि पश्चिम के अनुकरण से प्रत्येक क्षेत्र में हम आगे बढ़ सकते हैं और यह बढ़ना भी क्या है? उनकी दृष्टि में इस देश की करोड़ों की संख्या वाली जनता मात्र एक भीड़ है, शिक्षाहीन, दिशाहीन, दृष्टिहीन, संस्कारहीन और अंततः व्यक्तित्वहीन। इस जनसमाज को मन चाहे सांचों में ढालना है, अपने मन चाहे नहीं, क्योंकि इनका

अपना क्या है ? जहां से इनको अपना व्यक्तित्व मिल सकता है, उसे तो ये एक भीड़ मान कर चलते हैं। इनके पास उधार का व्यक्तित्व है और उधार लिए सांचों में ये जनता को भी ढालने में प्रयत्नशील हैं। पर सांचों से ढालने वाले अगर ईमानदार भी हों तो कारीगर कहला सकते हैं, कलाकार नहीं, मूर्तियां ढालने वाले कारीगर, व्यक्तित्व का सर्जन करने वाले कलाकार नहीं। ये आकृतियों को ढाल सकते हैं, मानव व्यक्तित्व का निर्माण नहीं कर सकते, और स्वाधीनता का सवाल अंततः मानव व्यक्तित्व का है, जो समाज और राष्ट्र के व्यक्तित्व में इसी रूप में प्रतिघटित होती है।

अपने देश के संदर्भ से हट कर थोड़ी देर के लिए अगर यह मान भी लिया जाए कि किसी देश के पास अपना कोई संस्कार नहीं है, मानस नहीं है, संस्कृति नहीं है और न कोई अपना व्यक्तित्व ही है, तो भी क्या यह संभव है कि वह किसी शक्तिशाली, विकसित और समर्थ देश से उधार लिए व्यक्तित्व के आधार पर अपने निजी व्यक्तित्व की खोज कर सकता है अथवा बिना व्यक्तित्व के विकास कर सकता है। शायद उधार देनेवाले राष्ट्र के सीमावर्ती और अनुवर्ती अंग के रूप में भौतिक स्तर पर एक सीमा तक विकास कर पाना संभव भी है। इस स्थिति का सीधा और स्पष्ट अनुभव रूस के साथ लगे हुए पूर्वी यूरोप तथा पश्चिमोत्तरी एशिया के अनेक राष्ट्र और अफ्रीका तथा दक्षिणी अमरीका के लगभग सभी राष्ट्र कर रहे हैं। इस समस्या को यहां उठाना प्रासंगिक नहीं है कि यूरोप के राष्ट्रों ने अपनी संस्कृति के प्रचार तथा प्रसार के लिए और उसकी जड़ों को अफ्रीका तथा अमरीका में जमाने के उद्देश्य से यहां के मूल निवासियों की संस्कृतियों को उच्छिन्न करने का पूरा तथा सफल प्रयत्न किया है। उनकी इस क्रूरता तथा नृशंसता के पीछे जंगली जातियों को सभ्य बनाने का अभिनय कितना सच्चा था, यह आज स्पष्ट होता जा रहा है। आज यूरोप के उदार तथा मानवतावादी विचारक स्वयं प्रतिपादित तथा स्वीकार कर रहे हैं कि इन जातियों में अनेक की संस्कृतियां पूर्ण विकसित थीं और एक माने में यूरोप की उस समय की सांस्कृतिक दृष्टि से कम संपन्न नहीं। इन बची खुची जातियों को अपने आप को समझने, अपने व्यक्तित्व को पुनरन्वेषित करने और अपनी अंतर्निहित शक्तियों तथा संभावनाओं को नियोजित तथा विकसित करने का कब अवसर मिल सकेगा अथवा मिल भी सकेगा, कहना कठिन है। पर अफ्रीकी जातियों के उत्थान और अभ्युदय के साथ इस संबंध में उनके संकल्प को देखा जा सकता है, वे अपने व्यक्तित्व की खोज में हैं, अपनी संस्कृति की खोज में हैं और इस प्रकार अपने लिए नई भाषा की भी खोज में हैं।

जिन अमरीकी तथा अफ्रीकी देशों में जातियों का मिश्रित रूप हो गया है और जो अब तक यूरोपीय संस्कृति, व्यक्तित्व तथा भाषा से आक्रांत रहकर आगे बढ़े हैं, उसके अंदर आज भारी उथल-पुथल अपने व्यक्तित्व को स्वाधीन करने के

लिए चल रही। उनके सामने स्पष्ट होता जा रहा है कि स्वाधीन विकास के लिए स्वाधीन व्यक्तित्व की अनिवार्यता है, यूरोप की संस्कृति, समृद्धि तथा विकास से संबंध जोड़ कर बढ़ने में उनकी सारी शक्ति तथा संभावनाएं कुंठित हो जाती हैं। अतः उनको अपनी दिशा, अपनी संभावना, अपनी शक्ति, अपनी योजना, अपना ज्ञान-विज्ञान सब कुछ खोजना है। इसका सीधा और साफ़ अर्थ है कि उनको अपनी भाषा खोजनी है, जो वास्तव में उनके व्यक्तित्व का रूप होगी, जो उनकी मौलिकता, उनकी प्रतिभा को सही अभिव्यक्ति प्रदान कर सकेगी, अथवा सही रास्ते पर सक्रिय तथा गतिशील कर सकेगी। जिस प्रकार उनके व्यक्तित्व में यूरोप के राष्ट्रों और जातियों के संस्कार सुरक्षित हैं, पर उनको इनके आधार पर नए व्यक्तित्व का संघटन करना होगा, उसी प्रकार यूरोप की भाषाओं—स्पैनिश, फ्रांसीसी तथा अंगरेजी— को ग्रहण करके भी अपने व्यक्तित्व के आधार पर उनका निजी विकास तथा संस्कार करना होगा। वास्तव में भाषाओं का यह रूपांतरण तथा व्यक्तित्व का संघटन ही प्रक्रिया है।

इतना ही नहीं, इसका प्रमाण यूरोप की उन गोरी जातियों के राष्ट्रीय जीवन से भी दिया जा सकता है जिन्होंने प्रायः मूल वासियों को उन्मूलित करके नए देश बसाए हैं। इन राष्ट्रों को भी अपनी स्वाधीनता तथा सांस्कृतिक प्रक्रिया में महत्व पाने की आकांक्षा के अनुपात में अपने निजी व्यक्तित्व को स्वतंत्र रूप में अन्वेषित तथा संघटित करना पड़ा है। संयुक्त राज्य अमरीका इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। राजनीतिक परिस्थिति की विवशता को छोड़कर, जिसे अब संयुक्त राज्य अमरीका ने अपने पक्ष में ही मोड़ लिया है, पश्चिमी यूरोप से उसने अपने को पूरी तरह से स्वतंत्र कर लिया है। आज अमरीकी संस्कृति लगभग एक स्वतंत्र इकाई के रूप में प्रतिष्ठित है, उसके मूल में संयुक्त राज्य अमरीका का अपना अन्वेषित निजी व्यक्तित्व है। यही कारण है कि आज अमरीका का मानस, चिंतन पद्धति, ज्ञान-विज्ञान-प्रविधि, अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण सभी स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं। यह आकर्षक तथा महत्व की बात है कि अमरीका ने अपनी भाषा (अंगरेजी) तथा साहित्य को भी स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान करने का भरसक प्रयत्न किया है और सफलता भी प्राप्त की है। जो अंतर्राष्ट्रीयता के झंडा फहराने वाले इसमें अर्थात अमरीका तथा यूरोप के सांस्कृतिक दृष्टिकोण के अंतर में विसंगति देखते हों, उनसे केवल इस ओर ध्यान देने को कहा जा सकता है कि अमरीका की बढ़ती हुई धाक को देख कर यूरोप की संस्कृति के उन्नायकों—अपने अपने ढंग से इंग्लैंड, फ्रांस तथा पश्चिमी यूरोप—में बेचैनी और खलबली क्यों देखी जाती है। अगर सोचने की फ़ुरसत हो तो उनके सामने बात साफ़ ही है।

हमारी दृष्टि वर्तमान पर होनी चाहिए, जिस पर हमारा भविष्य निर्मित होने जा रहा है, अतः अतीत अथवा इतिहास के किसी पक्ष से बंधकर सोचना

हमारी चिंतनपद्धति में नहीं आना चाहिए। ऐसी स्थिति में आज यदि वह यथार्थ मान लिया जा सके कि हमारे देश में एकता के सूत्र में बांधने वाली कोई परंपरा नहीं है—भाषा, संस्कार, संस्कृति, चिंतन अथवा संघटित रूप में एक व्यक्तित्व की—तो सहज माना जा सकता है, माना जाना चाहिए कि राजनीतिक, आर्थिक, औद्योगिक, व्यावसायिक तथा प्राविधिक विकास की दृष्टि से हम किसी भी संस्कृति और भाषा—विदेशी, पश्चिमी, अंगरेजी भी या ही—को आधार रूप में स्वीकार करके चल सकते हैं। यदि यह पद्धति तथा प्रक्रिया सरल होती तो मैं वर्तमान के विकास की अपनी आतुरता में एक बार यह इच्छा भी कर सकता था कि काश हमारे राष्ट्रीय तथा सामाजिक जीवन को घेरने वाली, बांधने वाली अतीत तथा इतिहास की कोई हमारी परंपरा होती ही नहीं। पर सारे संसार के साक्ष्य पर और राजनीतिक तथा कूटनीतिक पक्षों से मुक्त उदार तथा मानवतावादी पश्चिमी विचारों के प्रमाण पर कहा जा सकता है कि ऐसी स्थिति में भी व्यक्तित्व के आरोप, सांस्कृतिक प्रक्रिया के अनुकरण, यहां तक कि ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में केवल उधार लेकर कोई देश न आगे बढ़ा है, न बढ़ सकता है।

ऊपर की स्थिति को स्वीकार कर लेने पर यथार्थ की कुछ नई चुनौतियों का सामना साफ मन से करना होगा। तब दोरुखी चालों को छोड़कर ऐसे लोगों को साफ शब्दों में घोषित करना चाहिए कि हम अपने अतीत से, अपने इतिहास से आज असंबद्ध हैं, शायद यह कह पाना संभव नहीं होगा कि हमारा अतीत है ही नहीं, हम इतिहास के दौर से गुजरे ही नहीं, हमारे विभिन्न क्षेत्रों और प्रदेशों के जनसमाज का सांस्कृतिक जीवन आदिम अवस्था का है या पहुंच गया है। कम से कम ऐसा कहना तर्कसंगत होगा, क्योंकि ऐसी स्थिति में और ऐसे समाज पर दूसरी भाषा तथा संस्कृति को आरोपित करना आवश्यक होगा तथा स्वाभाविक हो सकता है। पर इसका सही अर्थ उनको समझना चाहिए। इसका अर्थ होगा कि इस देश की करोड़ों जनता को नए सिरे से भाषा सिखाई जाए, नया संस्कार दिया जाए, नया व्यक्तित्व प्रदान किया जाए। पर इतना भी पर्याप्त नहीं है, इस पूर्व-स्वीकृत उर्वर भूमि में इनकी जड़ें जमानी होंगी, तभी आगे भविष्य में कोई नया पौधा या वृक्ष बढ़ पाएगा। इस प्रक्रिया से यदि किसी देश या समाज को गुजरना पड़े तो यह उसके लिए कठोर तथा मर्मांतक अध्यवसाय का मार्ग होगा, पिछड़ा से पिछड़ा समाज कोरी तखती नहीं होता, अतः यह भारी तथा पीड़क आत्मबलिदान की अपेक्षा भी करेगा। संभवतः संपर्क तथा सहयोग से आंतरिक व्यक्तित्व को विस्फोटित करके विकसित करना इसकी अपेक्षा कहीं सरल हो। पर हमारा आज का समर्थ बौद्धिक वर्ग यथार्थ की इस चुनौती का कभी सामना करता ही नहीं, वह अपनी अधकचरी बुद्धि से सारी समस्या का अतिसरलीकरण और सामान्यीकरण करके नतीजे निकाल लेता है। वह समझता है कि पश्चिम के उधार

लिए अपने व्यक्तित्व, ज्ञान-विज्ञान, संस्कार से ही वह सारी जनता को अपनी बौद्धिक प्रक्रिया का बिना सहभागी बनाए सुधार-संवार लेगा, आगे चलने के मार्ग पर लाकर खड़ा कर देगा। यह कितनी बड़ी विडंबना है, स्पष्ट है।

आज हमारे सामने ही नहीं सारे संसार के सामने भौगोलिक, क्षेत्रीय स्वतंत्रता का सवाल नहीं है। ऊपरी राजनीतिक स्वतंत्रता का प्रश्न भी विचारणीय रह गया है। सामान्यतः हम आर्थिक रूप से विकास करने, योजनाएं बनाने के लिए स्वतंत्र हैं; यह अलग बात है कि अंततः ये स्वतंत्रताएं व्यक्तित्व की स्वाधीनता से गहरे स्तर पर संबद्ध हों। पर इन सभी स्वतंत्रताओं का उपार्जन और सक्रिय अनुभव इस व्यक्तित्व की स्वाधीनता पर आश्रित है। यदि किसी देश का सारा जनसमाज अपने व्यक्तित्व का अनुभव नहीं कर पाता, यदि चिंतन की क्षमता उसने अपने ढंग से विकसित नहीं की है, यदि उसकी आंतरिक प्रतिभा को मौलिक ढंग से और सर्जनात्मक स्तर पर क्रियाशील तथा गतिशील होने का मौका नहीं मिला है, तो उसकी स्वाधीनता की कल्पना कोरी तथा निरर्थक है। जब तक हम यह अनुभव नहीं करते कि देश की जनता की गरीबी, जड़ता, अवरुद्धता हमारी है और उसमें निहित शक्ति, सामर्थ्य, प्रतिभा, ऊर्जा, मौलिकता ही हमारी वास्तविक संपत्ति है, तब तक देश की किसी समस्या को ठीक ढंग से नहीं समझ नहीं सकते। भाषा की समस्या तो मौलिक और आंतरिक है, देश के व्यक्तित्व का ही रूप है, अतः उसके बारे में सही दृष्टि पाने का यही उपाय है। इस केंद्रीय तत्व को ग्रहण करते ही इस देश की भाषाओं का अंतर्वर्ती संबंध, उनकी गहन मानवीय एकता, उनकी सांस्कृतिक प्रक्रिया की समरसता, उन्हीं भाषाओं के बीच एक केंद्रीय भाषा की आंतरिक तथा वैचारिक संप्रेषण की स्थिति को समझने में देर नहीं लगेगी।

आधुनिक बोध या संवेदना

सवाल हमको कहीं से मिल सकते हैं, पर जवाब हमको अपने ढूंढ़ने होंगे। हमारी दिक्कत है कि सवाल ही नहीं हम जवाब भी दूसरों से पाना चाहते हैं, या दूसरों के ढंग से पाना चाहते हैं। पहले हमने आधुनिकता का सवाल एजरा पाउंड तथा इलियट से लेकर ओडन-स्पेंडर तक से लिया और उन्हीं के चारों ओर जवाब भी ढूंढ़ना चाहा। फिर स्पेंडर जैसे पश्चिमी बौद्धिक के लिए यह सवाल असंगत हो चुका, तो हमारे अदाकार बौद्धिक ने भी ओंठ बिदका कर कह दिया कि आधुनिकता की बहस बेमानी है। धुएं के छल्लों पर विद्वत्तापूर्ण बहस करने वालों की मुश्किल यही है, वे न खुद रचना या जिंदगी के संदर्भों से जुड़कर अपनी सोच-समझ को आगे बढ़ा सकने में समर्थ हैं और न ऐसे किसी व्यक्ति की चुनौतियों को स्वीकारने में, जो अपने यथार्थ के नानाविध संदर्भों से सवाल के मौलिक जवाब खोज रहा है। उनके सारे सवाल दूसरों के हैं, और उनके जवाब भी दूसरों के हैं। उनका काम तो खाली जुगाली करना है। यहां यह कहना इसलिए जरूरी है कि कोई विद्वान पुरुष अपने खास अंदाज में कहने लग सकते हैं कि पश्चिम में तो यह चलती नहीं। यानी कि बहस न हुई एक फैशन है। और इसीलिए भी कि आधुनिकता और उसकी संवेदना के बारे में हमने अपने संदर्भों में बहस को जो रूप और आयाम दिया है, वह इस फैशनपरस्ती से न केवल अलग है, वरन उसकी अपनी अहमियत है।

आधुनिक के बारे में दो बातें और कही जाती हैं, एक तो यह कि यूरोप में 15वीं-16वीं शताब्दी से आधुनिक की शुरुआत मानी जाती है और भारत में 19वीं शती के उत्तरार्ध से इस युग का प्रारंभ माना जाना चाहिए। दूसरे लोगों का कहना भी है कि हर युग का बोध अपने परिवेश में आधुनिक होता है। इसका मतलब हुआ कि आधुनिकता अथवा आधुनिक बोध संबंधी परिकल्पना कालसापेक्ष है। एक के अनुसार आज के युग की कुछ निजी विशेषताएं हैं जो व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व को नियोजित करती हैं और उसके संवेदन को नया वैशिष्ट्य देती हैं। इस आज की शुरुआत को यूरोप में 15वीं-16वीं शती से मान लें अथवा भारत में 19वीं शती के मध्य से मानें। दूसरे के अनुसार इस आज के युग का ही क्यों हर युग का अपना अलग वैशिष्ट्य होता है। व्यक्तित्व के रूप में और संवेदन के स्तर पर भी। यानी कि आधुनिक बोध का सवाल समसामयिकता से जुड़ा हुआ है। जो लेखक या रचना अपने युगजीवन अर्थात उसकी समसामयिकता से गहरे स्तर पर संपृक्त है, उसे युगविशेष की सापेक्षता में आधुनिक माना जाएगा।

परंतु आधुनिक बोध के बारे में हमारी बहस इस दायरे के बाहर चलती रही है। किसी युग का साहित्य उसके जीवन को प्रतिबिंबित प्रतिफलित करता है, यह

सतही बात है और साहित्य को सामयिकता से जोड़ने की दृष्टि है। इस स्तर पर भी साहित्य का सामयिक होना अधूरा सत्य है। युग का सामयिक ऊपरी या बाहरी जीवन अपनी परिस्थितियों, कार्यकलापों, घटनाओं और पात्रों की दृष्टि से उस युग के महान साहित्य में केवल झांकी के रूप में अथवा झलक मार कर रह जाता है। साहित्य यदि सचमुच साहित्य है तो वह युगविशेष की सर्वोपरि सर्जन-क्षमता के रूप में व्यंजित होता है, और इस स्तर पर वह उस युग की समस्त मूल्य-प्रक्रियाओं से जुड़ता है। हर युग का जो कुछ उपलब्ध अथवा उपार्जित है वह उसकी सांस्कृतिक चेष्टा है। जीवन के विविध क्षेत्रों में, समाज, नीति, धर्म, दर्शन और साधना, आदि में जो कुछ मूल्य प्रक्रियाएं रचनाशील होती हैं, वही उस युग की उपलब्धि है, मनुष्य का उपार्जन है। साहित्य इन प्रक्रियाओं को रचना के स्तर पर प्रतिफलित करता है, और अपनी सर्जनधर्मिता में उनके अनुभव की समृद्धि को अनुभावित करता है।

इस प्रकार पिछले युगों के साहित्य में समसामयिकता का बोध दो स्तरों पर देखा जा सकता है। युगविशेष में विभिन्न क्षेत्रों में जिन सर्जनात्मक मूल्यों की सुरक्षा की जा सकी है, उस युग के साहित्य में उनका सर्जनात्मक अनुभव सुरक्षित होता है। साथ ही युग का श्रेष्ठ साहित्य उसकी सर्जनधर्मिता का उच्चतम रूप कहा जा सकता है, क्योंकि युग की समस्त सर्जनक्षमता साहित्य के भाषिक रूप में अभिव्यक्ति ग्रहण करती है। समाज, नीति, धर्म दर्शन और साधना आदि के क्षेत्रों में सर्जनप्रक्रिया, मूल्यबोध को या तो व्यवहार, आचरण और अनुभव में प्रतिफलित करती है अथवा मूल्यगत अवधारणाओं में रूपायित करती है। यही कारण है कि इन क्षेत्रों की सर्जनशीलता मूल्यों को निरूपित, अन्वेषित और स्थापित करने लगती है और इस प्रकार अपने सर्जनकर्म को बाधित करने लगती है। यहां इस स्तर पर ज्ञान, विज्ञान, धर्म, दर्शन और साधना संबंधी सारे मूल्य आंतरिक सर्जनात्मक अनुभव से दूर पड़ते जाते हैं, इनके लिए प्रयुक्त प्रतीक और बिंब केवल संकेत, चिह्न और प्रत्यय रूप में भाषा के स्तर पर पारिभाषिक बन जाते हैं।

मूल्यप्रक्रिया के विविध रूप मानवीय क्षेत्रों में कई स्तरों पर अलग अलग युगों में परिलक्षित होते हैं। किसी युग में किसी समाज का नैतिक जीवन अधिक समृद्ध होता है, कभी राजनीतिक अथवा आर्थिक स्तर पर समाज की समृद्धि परि-लक्षित होती है, कभी दार्शनिक चिंतन का स्तर गौरवशाली होता है, कभी सामा-जिक जीवन धर्म और साधना के उच्च मूल्यों से संपन्न होता है और कभी विज्ञान की मौलिक खोजें युगजीवन को गतिशील बनाती हैं। ऐसा भी नहीं है कि हर युग में एक ही स्तर पर अथवा एक ही बोध में मूल्यप्रक्रिया गतिशील होती हो, कई स्तरों और क्षेत्रों में गतिशील होकर यह प्रक्रिया अधिक जटिल हो सकती है। पर इन मूल्य प्रक्रियाओं की सर्जनशीलता में अनुभव की संपन्नता रहती है, अभिव्यक्ति

का रूप विधान नहीं। जब सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक जीवन की मूल्यवत्ता को रूप विधान देने की चेष्टा की जाती है, तब हमारी भाषा में कुछ सिद्धांत, कुछ परिभाषाएं और कुछ अवधारणाएं जुड़ जाती हैं। उनके माध्यम से मूल्यों की स्थापना और विवेचना की जा सकती है, पर उनके सर्जनात्मक अनुभव को अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार दार्शनिक, धार्मिक और साधनापरक अनुभवों को, भाषिक प्रतीकों, प्रत्ययों, दृष्टांतों, मिथकों को व्यक्त किया जाता है और इस स्थिति में इनसे सर्जनात्मक मूल्यों का अलगाव हो जाता है। वे केवल निहित अनुभव के भाषिक संकेत या प्रत्यय मात्र होते हैं।

यह अवश्य है कि युग विशेष के बोध या संवेदन के अंतर्गत इन समस्त मूल्य-प्रक्रियाओं का महत्वपूर्ण स्थान है, और व्यापक युगमानस में इन्हीं भाषिक संकेतों चिह्नों, बिंबों, उपमानों, प्रतीकों, दृष्टांतों, संदर्भों और मिथकों के माध्यम से इनकी आंतरिक व्यंजना संभव होती है। सर्जन की यह सारी प्रक्रिया आंतरिक है, इसमें अभिव्यक्ति का पक्ष गौण रूप से आ पाता है। इसी कारण इन विभिन्न क्षेत्रों के मूल्य अपने सर्जन के मूल्य स्रोत से अलग पड़ जाते हैं। इसके विपरीत कलाओं में और साहित्य में सर्जन का अभिव्यक्तिपक्ष व्यंजित और प्रधान होता है। परंतु अन्य कलाओं को साहित्य की तुलना में आसानी है, वे युग की सर्जनात्मक क्षमता के स्तर पर युग सम्मत मूल्यवान अनुभव या संवेदन को आत्मसात कर लेती हैं। उनके कलामाध्यम युगबोध से सीधे जुड़कर अभिव्यक्ति ग्रहण करते हैं। मध्ययुग की समस्त धर्मभावना, साधना और दार्शनिक चिंतना का सर्जनात्मक अनुभव उस युग के स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला और संगीत में व्यंजित है। पर साहित्य की भाषिक सर्जनशीलता के क्रम में भाषा स्वतः बाधा है। अन्य कलाओं के माध्यम सीधे रचना के स्तर पर इस्तेमाल किए जाते हैं, उनमें रचनाकार अपने को व्यक्त करता है क्योंकि ये माध्यम रचनाकार से स्वतंत्र हैं, साथ ही इनमें प्रतिरोध की क्षमता नहीं है।

स्थापत्य से लेकर संगीत तक स्थूल से सूक्ष्मतर माध्यमों का उपयोग कलाकार करता है। ईंट-चूना, पत्थर, रंग हों, या कन्नी, छेनी और ब्रश हो अथवा आकार-प्रकार, आयाम, परिप्रेक्ष्य आदि हों, इन सबका उपयोग मौलिक जगत से और उसके आधार पर किया जाता है। कलाकार के मानस में अनुभव का जो रूपाकार बनता है, उसे वह इन्हीं माध्यमों से व्यक्त करता है। मिट्टी, ईंट, पत्थर, कागज, कैनवास, रंग आदि के उपयोग में प्रतिरोध केवल भौतिक परिस्थिति का हो सकता है। अन्यथा कलाकार अपनी कल्पना के अनुसार इनके माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करता है। संगीत में स्वरों का उपयोग होता है। वाद्ययंत्रों के स्वर तो विभिन्न उपकरणों से उत्पन्न मौलिक स्वर होते ही हैं, पर मनुष्यकंठ से उत्पन्न स्वरों का आदर्श भी ये मौलिक स्वर ही हैं। संगति को शुद्ध स्वरों की कला माना

गया है। संगीतकार इन्हीं स्वरों के माध्यम से अपने विशिष्ट अनुभवों को व्यक्त करता है। युग के संदर्भ में जब समाज, धर्म, दर्शन, साधना आदि के क्षेत्रों में नए मूल्यों का संक्रमण तथा उपार्जन होता है, तब इस युग के कलाकार इन मूल्यों के अनुभव को स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला अथवा संगीत आदि में अभिव्यक्त करते हैं।

पर वैसा कहा गया है भाषा इन माध्यमों के समान नहीं है, वह तटस्थ नहीं है। भाषा व्यक्ति से, यानी रचनाकार व्यक्ति से अलग नहीं है। वह उसके ऐतिहासिक और सामाजिक संस्कार का अंग है। भाषा हमारे सारे अनुभवों और सारी मूल्य प्रक्रियाओं को घटित करती है। फिर उनको भाषा के रूप में, अर्थात शब्दों, पदों, प्रतीकों, प्रत्ययों, रूपकों, दृष्टांतों, बिंबों तथा मिथकों में, परंपरा में ग्रहण किया जाता है। क्रमशः भाषा के प्रयोग के साथ मूल्यप्रक्रिया का भाषिक अनुभव प्रयोजनीय तथा व्यावहारिक होकर सर्जनशीलता से दूर पड़ जाता है। तब जैसा माना गया है मूल्य प्रत्ययों में जाना जाने लगता है, वह स्थापित मान्यता हो जाता है। जैसे पूजा के प्रतीक भावव्यंजना से उपचार मात्र रह जाते हैं, मूल्यों के रचनात्मक अनुभव की वाहक भाषा रूढ़ियों तथा मान्यताओं का प्रचलन रह जाती है।

हर युग का जीवन परंपराओं में जीता है, उसका बहुत सा अंश रूढ़िबद्ध होता है, मान्यताओं पर चलता है। यह सारा अंश औपचारिक अनुभव से गुजरता है, वहां किसी रचनात्मक अनुभव की संभावना नहीं होती। जहां तक युग-जीवन ऐसे अनुभव को पाने में सक्षम होता है, वह रचनात्मक तथा मौलिक होता है। यह अलग बात है कि यह सर्जनप्रक्रिया जीवन के किस स्तर या क्षेत्र में घटित हो रही है, लेकिन उसी स्तर पर या क्षेत्र में मूल्यों का जीवन संभव होगा। इतना ही नहीं युगजीवन में विजड़ित तथा विघटित मूल्यों का अतिक्रमण करके मूल्यबोध की नई संभावनाएं तथा दिशाएं भी आविष्कृत होती हैं। साहित्य का रचनाकार अपने भाषिक व्यक्तित्व में अपने युगजीवन के सभी पक्षों और स्तरों से जुड़ा हुआ है। वह अपनी भाषिक रचनाशीलता में युग की मूल्यप्रक्रिया को आत्मसात करता है और उसकी बद्धताओं का अतिक्रमण कर नई मूल्यप्रक्रिया को संभव भी करता है। हमारे युग का साहित्यकार भी भाषा के स्तर पर अपने युगजीवन की मूल्यस्थितियों में संलग्न है। इसी कारण आज का रचनाकार इतिहास के समान सामयिक परिस्थिति के अनुभव का अतिक्रमण कर समसामयिकता की संपूर्ण गत्यात्मक प्रक्रिया के बीच अपने युग का बोध पाना चाहता है, और यह हमारे अनुभव का आधुनिक संवेदन के रूप में भिन्न या नया आयाम है।

कभी आज की समसामयिक जटिल परिस्थिति के आधार पर आधुनिक बोध को समझने की कोशिश की जाती है। बीसवीं शताब्दी का यूरोप युद्धों और संक्रांतियों के बीच गुजरा है। इस बीच वहां का व्यक्ति कुंठा, अनास्था, विघटन,

संत्रास, निराशा और अकेलेपन की मन:स्थितियों से गुजरा है। उसकी उन्नीसवीं शती से पलने वाली बहुत सी आशाएं, आकांक्षाएं और आस्थाएं खंडित हुई, जिन मूल्यों को बहुत मान दिया गया था उनका विघटन हुआ है। व्यक्ति की स्वाधीनता बराबरी और विकास के समान अधिकार, मानव का उज्ज्वल भविष्य, विकास की ओर उन्मुख इतिहासप्रवाह, विज्ञान पर आस्था और व्यापक मानववाद आदि उन्नी-सवीं शती से पश्चिमी मानस को आकर्षित करते रहे हैं, पश्चिमी व्यक्ति के लिए प्रेरणा के स्रोत रहे हैं। बीसवीं शती के महायुद्धों के बीच पश्चिम की सारी आशाएं और आस्थाएं विघटित मूल्यों के साथ नष्ट होती गई हैं। पश्चिम की मन:स्थिति को और उसकी मूल्यों की संक्रांति की परिस्थिति को कभी आधुनिक युगबोध के रूप में माना गया है। और इधर भौगोलिक सीमाएं संकुचित होती गई हैं, देश निकट आते गए हैं। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति और उसके पीछे आर्थिक नीतियों के कारण सारे संसार के देश एक दूसरे के निकट आते गए हैं। इस कारण एक ओर बौद्धिकों का एक वर्ग पश्चिम की इस परिस्थिति और संक्रांति को आधुनिकता का प्रमाण मानकर अपने अनुभव और लेखन का संदर्भ स्वीकार करता रहा है क्योंकि पश्चिम की परिस्थिति का अधिक एहसास महानगरों में हो सकता है, इस कारण ऐसे लेखक महानगर के जीवन और उसके अनुभव को ही साहित्य में आधु-निकता की कसौटी मान कर चलते हैं।

यहां इस समस्या को भी दो दृष्टियों से देखना अपेक्षित है। पहले तो भारतीय महानगरों के जीवन को पश्चिमी परिस्थिति का विस्तार मानना भ्रामक है। दूसरे किसी सांस्कृतिक परिस्थिति का अनुभव जिस रूप में उससे आंतरिक स्तर पर संपृक्त व्यक्ति करता है, बाहरी व्यक्ति के लिए संभव नहीं है। किसी परिस्थिति में बेगानगी का अनुभव उसके लिए ही अर्थ रखता है, जो एक स्तर पर उससे और उसकी परंपरा से जुड़ा हुआ है। हमारे महानगरों में का जीवन अपने ऊपरी रूप रंग में तथा जीवन की विकसित होती हुई जटिलता में भले ही पश्चिमी जीवन के विस्तार में जाना पड़ता है, पर जिस सांस्कृतिक स्तर पर यूरोप में संक्रांति की चर्चा की जाती रही है, उसका संबंध नहीं है। बिना इस आंतरिकता और गहराई के न मूल्यों को स्वीकार किया जा सकता है और न उनके कुंठित-विघटित होने की चर्चा ही की जा सकती है। भारतीय महानगरों की स्थिति पश्चिमी महानगरों से भिन्न है। पश्चिम के महानगर, लंदन, पेरिस, प्राग, बर्लिन, मास्को या रोम किसी को ले सकते हैं, अपने देश की व्यापक तथा विशिष्ट परंपराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। अपने सारे विश्वनगर होने के माहौल में वे अपनी सांस्कृतिक परंपरा से पूरी तरह जुड़े हुए हैं। पर हमारे महानगर पश्चिमी प्रभाव में विकसित हुए हैं, और अपने विकासकाल में एक विशेष प्रकार के हीनभाव से ग्रस्त रहे हैं। वहां के परंपरित निवासी पश्चिमी अनुकरण में संस्कृतिविहीन हो गए हैं, उनके लिए

पश्चिमी संस्कृति से संबद्ध हो पाना संभव नहीं रहा है और अपनी संस्कृति से वे घृणा करने (हीनभाव के कारण ही) की वजह से त्याग दिए गए हैं और वहां जो बाहर से पहुंचते हैं, वे अपने ग्रामीण संस्कार से आकस्मिक रूप से इस वातावरण में आ जाते हैं, कि वे उनकी बाहरी तड़क-भड़क से ही अभिभूत होकर उसी को आधुनिकता मान बैठते हैं। हमारे ऐसे लेखकों की यही स्थिति है।

इस प्रकार के लेखक अपनी जीवंत धारा से कटकर महानगर की रंगीनी, चमक-दमक, विविधता को आधुनिक जीवन के रूप में स्वीकार करते हैं। परंतु जिस संस्कार की भूमिका से वे पलायन करके इन नगरों के जीवन में आधुनिक संस्कार ग्रहण करने की चेष्टा करते हैं, वह उनके सारे मानसिक चिंतन और व्यवहार में उभर उभर आती है। इस प्रकार रचनाकर्म जिस प्रकार की गहरी आंतरिकता, सांस्कृतिक संपृक्ति और वास्तविक चुनौतियों में संभव होता है, उनका यहां अभाव है। जिस जीवन की जटिलता की ये चर्चा करते हैं, वह अनुभव के संदर्भों से विकसित नहीं है और न उसमें किसी रचनात्मक आयाम की संभावना ही परिलक्षित होती है। यह जटिलता परिस्थितियों की है अथवा संबंधों के कारण है। विषय-वस्तु की यह नवीनता आधुनिक रचनात्मक बोध से मूलतः संबद्ध नहीं है। यथार्थ का यह भिन्न अथवा नया रूप माना जा सकता है, पर जीवंत सांस्कृतिक चेष्टा अथवा मूल्यों के संक्रमण के अभाव में यह आधुनिक मनोभाव की उचित भूमिका भी नहीं है।

कहा जा चुका है कि वर्तमान युग में एक स्तर पर विभिन्न देशों के बौद्धिक और रचनाकार अपनी संवेदनाओं में निकट आ रहे हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि संसार के विभिन्न देशों में न केवल राजनीतिक, राजनयिक, आर्थिक, व्यावसायिक अंतर्संबंधों का विकास हो रहा है, वरन चिंतन और संवेदन की निकटता भी बढ़ती जाती है। इस दृष्टि से हमारे कुछ लेखक यूरोप अथवा अमरीका के लेखकों के साथ अपने को रखकर अपनी आधुनिकता की माप करना चाहते हैं। पर अपनी भूमिका की बिना उचित खोज के और बिना अपनी सांस्कृतिक परंपरा से टकराए अथवा उसकी चुनौतियों को स्वीकार किए कोई भी लेखक किसी समृद्ध से समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा का साक्षात्कार नहीं कर सकता। पश्चिमी परिस्थिति के यथार्थ से अपना परिचय प्रकट करना अथवा अपनी प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करना अपनी सारी भावशीलता के बावजूद सार्थक कृतिकर्म नहीं माना जा सकता। किसी स्तर पर उसे महत्व देना अलग बात है, और अपना आधुनिक सर्जनशीलता से उसे जोड़ना अलग बात है।

सिद्धांत रूप में आधुनिकता की चर्चा यूरोप में भले ही समाप्त हो चुकी है, पर अपनी विजड़ित होती सांस्कृतिक प्रक्रिया को पुनः गतिशील रखने के लिए और मूल्य की संक्रांति के बीच से नई जीवनदृष्टि को अन्वेषित करने के लिए वहां

का बौद्धिक और रचनाकार सतत प्रयत्नशील रहा है। वस्तुत: साहित्य अथवा किसी भी मौलिक रचनाशीलता के संबंध में सिद्धांत रूप में चर्चा सदा गलत दिशा की ओर मुड़ जाता है अथवा उसमें स्वत: रूढ़ियां बनने लगती हैं। इसीलिए हम आधुनिकता संबंधी चर्चा में प्रारंभ से सतर्क रहे हैं कि यह सिद्धांत की बहस में न पड़ जाए। जहां यूरोप के जीवन की कुंठा, अनास्था, मूल्यहीनता आदि की चर्चा की जाती है, वहां यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यूरोप में पिछले मूल्यों के स्थान पर नए मूल्यों को विकसित करने का प्रयत्न रहा है। पिछले मानववाद के स्थान पर मानवतावाद, व्यक्तिवाद के स्थान पर वैयक्तिकतावाद, विज्ञानवाद के स्थान पर वैज्ञानिकतावाद, विकासवाद के स्थान पर सापेक्षतावाद और प्रजातंत्र तथा साम्यवादी शासन-व्यवस्थाओं के स्थान पर उनका सामंजस्य आदि इस दिशा के अनेक प्रयत्न माने जा सकते हैं। विज्ञान और प्रविधि की चमत्कारी प्रगति ने पश्चिमी संस्कृति को नई नई चुनौतियां दी हैं, और वहां के बौद्धिकों और रचनाकार ने हर स्तर पर इनका मुकाबला करने का अथक प्रयत्न किया है। किसी भी प्रकार की सर्जनधर्मिता के लिए यह बहुत आवश्यक है।

इस समस्त प्रयत्न में पश्चिम ने सर्जन का एक नया आयाम अन्वेषित किया है। और सर्जन का यह नया आयाम हमारी आधुनिकता की दृष्टि को उसी प्रकार अन्वेषित और संभावित करता है, जैसे पश्चिम की वैज्ञानिक उपलब्धि हमारी अपनी वैज्ञानिक जीवनदृष्टि के विकास की भूमिका है। देश-काल के संकोच के साथ आज संसार के सभी देश एक दूसरे के निकट आते जा रहे हैं। आज एक स्तर पर सारा संसार एक परिस्थिति के रूप में संघटित होता जा रहा है। हमारे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक जीवन की ही नहीं सांस्कृतिक जीवन की भी प्रत्येक घटना संसार के विभिन्न भागों में चल रही इन क्षेत्रों की प्रक्रियाओं से जुड़ी हुई है। अत: लेखक की रचनात्मक संवेदना यथार्थ के इतने व्यापक परिप्रेक्ष्य को प्रस्तुत करती है। इसी कारण हमारे अनेक रचनाकार पश्चिमी उन्नत देशों से रचना के स्तर पर संपृक्त अनुभव करते हैं। इससे यह भ्रम भी उत्पन्न होता है कि आधुनिकता का संदर्भ इन देशों की विकसित संवेदना हो सकती है, और हमारे वे रचनाकार ही आधुनिक हैं जो संवेदना के स्तर पर इन देशों के जीवन, जीवन-पद्धतियों, सांस्कृतिक प्रक्रियाओं और रचनात्मक प्रयत्नों से जुड़े हैं। भ्रम इस बात में नहीं है कि आज ये सारे प्रयत्न, सारी प्रक्रियाएं, चेष्टाएं कहीं न कहीं और किसी न किसी स्तर पर एक दूसरे को छूते या काटते हैं। वरन इस बात में हैं कि हमारे लेखक देश-काल के किसी सापेक्ष बिंदु के यथार्थ को बिना स्वीकार किए किसी निरपेक्ष विश्वजनीन संवेदना का साक्षात्कार करना चाहते हैं। वस्तुत: हमारा अनुभव, हमारी संवेदना अपने निजी संदर्भों से ही उस व्यापक यथार्थ का साक्षात्कार कर सकती है। अत: आज की आधुनिक संवेदना प्रत्येक बिंदु पर

देश-काल के आयाम को ग्रहण करती है और उनका अतिक्रमण भी करती है।

देश और काल की इस नई उद्भावना में हमारे यथार्थ संबंधी अनुभव का बिलकुल नया आयाम उद्घाटित हो गया है। इस स्तर पर समसामयिकता के प्रति सचेष्ट होने का अर्थ बदल जाता है। अब काल को स्थिर मानकर देश को घटित मानना अथवा देश को स्थिर मानकर काल को घटित मानना यथार्थ के अनुभव के लिए अपर्याप्त है। इसीलिए केवल घटनाओं, स्थितियों, वस्तुओं के संबंधों और पात्रों की उनके प्रति की गई प्रतिक्रियाओं की विभिन्न जटिलताओं में अनुभव के आधुनिक प्रकार को खोजना भ्रामक हो जाता है। एक गरीब की झोपड़ी के विवरणात्मक वर्णन और महल के वैसे ही वर्णन में संवेदना के गुणात्मक अंतर को खोजना बेकार है। इसी प्रकार भावात्मक प्रकारों और उनकी जटिलताओं में पात्रों की अनेक कोटियों, प्रकार और चरित्रों को प्रस्तुत किया जा सकता है, वहां रचना के स्तर पर गुणात्मक अंतर को मानकर भी संवेदना के आयाम समान बना रहता है। और अनुभव के इस नए आयाम पर ही आधुनिकता का रचनात्मक बोध संभव होता है। जो लेखक महानगर के जीवन में इस प्रकार की संबंधों और चरित्रों की जटिलताओं को प्रस्तुत करते हैं, वे नए प्रकारों की अपनी खोज में अपने पूर्ववर्तियों से अलग नहीं हैं।

अनुभव की विशिष्टता और अप्रतिमता अथवा अद्वितीयता की चर्चा यूरोप में बहुत पहले से चली आ रही है, हमारे साहित्यचिंतन में कई दशकों से चलती आ रही है। इसको आधुनिकता की बहस में एक नारे के रूप में उठाना बेमानी है। अनुभव को यदि भावात्मक संदर्भों में ही ग्रहण करना है, तो हमारी बहस में उसका विशेष महत्व नहीं है। परंतु रचना के क्षेत्र में पश्चिम के अधिकांश महत्वपूर्ण विचारकों ने अनुभव को अधिकांश में भावात्मक माना है। परंतु अनुभव को भाव के पक्ष से स्वीकार करने पर एक तो किसी भी वस्तु, स्थिति, संबंध और पात्र का अनुभव प्रकारों और कोटियों में बंट जाएगा, अतः उनसे संबंधित अनुभव में गुणात्मक अंतर अधिक से अधिक उत्पन्न हो सकता है। यहां अनुभव के आयाम में किसी परिवर्तन की संभावना नहीं है। दूसरे भावपक्ष में विशिष्टता या अद्वितीयता का हर प्रयत्न अनुभव को अस्पष्ट या अनिर्वचनीय बना देगा, जैसा कि ऐसे सभी प्रयत्नों में देखा गया है। भावों का संबंध वस्तुओं से हमारी प्रतिक्रियाओं से है। प्रतिक्रियाएं समान नहीं होतीं, समान प्रतिक्रियाएं उत्पन्न करना संभव नहीं है। उनका प्रभाव सदा साधारण भावात्मक परिस्थितियों के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। अनुभव को भावपक्ष से अथवा भाव रूप में ग्रहण करने से उसकी अभिव्यक्ति का हर विशिष्ट प्रयत्न अनुभव की विशिष्टता के स्थान पर संदर्भों की विशिष्टता में भावों के साधारणीकृत रूप को ही व्यंजित कर पाता है।

यह अवश्य है कि अनुभव की इस अद्वितीयता की तलाश में और उसकी अभिव्यक्ति के प्रयत्न में रचनाकार वस्तु का भावात्मक प्रतिक्रियाओं से अपने को मुक्त भी कर सका है, और इस प्रकार वस्तु के संपूर्ण अनुभव के नए आयाम का अन्वेषण भी कर सका है। पर यह तभी संभव हो सका है, जब रचनाकार को अपनी समसामयिकता का पूरा एहसास हो और उसके बीच से वह देश-काल के सापेक्ष आयाम में अपने वस्तुगत अनुभव को रूपायित कर सके। रचना के स्तर पर आधुनिकता का नया आयाम यही है, इससे भिन्न केवल अनुभव के प्रकार भेदों को परंपरा के साथ जोड़कर देखना सहज और स्वाभाविक है। यहां परंपरित और आधुनिक का साफ अंतर किया जा सकता है। परंपरित अनुभव के समस्त प्रकारों, गुणात्मक कोटियों और भावात्मक घनत्व के बावजूद इनमें वस्तु की भावात्मक प्रतिक्रियाओं का रूप रहता है। इनको अभिव्यंजित करने के लिए भाषिक रचना का संवेगात्मक रूपविधान प्रयुक्त होता है। भाषा में प्रतीकों, उपमानों, बिंबों, रूपकों के प्रयोग से भाव संवेग की समानांतर परिस्थितियां व्यंजित होती हैं, पर इनके माध्यम से न वस्तु का अनुभव संभव है और न ही प्रतिक्रिया स्वरूप अनुभव की विशिष्टता का संप्रेषण ही। इसके विपरीत आधुनिक दृष्टि वस्तु के अनुभव को प्रतिक्रियाओं से मुक्त कर उसकी पूर्णता, निजता और 'पन' में ग्रहण करती है। इस संदर्भ में देश-काल के आयाम में वर्तमान क्षण के महत्व को समझा जा सकता है। इतिहास के क्रम में आने वाला अतीत और भविष्य, जो पिछले काल-क्रम का प्रक्षेप मात्र है, सारी वस्तुओं, स्थितियों और पात्रों के प्रति हमारी भावात्मक प्रतिक्रियाएं ही तो हैं। यही कारण है कि वस्तुओं, स्थितियों और पात्रों को उनके सही रूप में ग्रहण करने के लिए हमको वर्तमान क्षण बिंदु पर उनकी निजता में व्यंजित करना होगा। वस्तुतः वस्तुओं, स्थितियों और पात्रों के क्षण पर संतुलित संबंधों और अंतरावलंबनों पर ही यह नया यथार्थ के अनुभव का आयाम आधारित है। साथ ही आज की विशिष्टता अनुभव के संदर्भ में वस्तुओं और स्थितियों की निजी सर्जनशीलता है। रचनेवाला व्यक्तित्व जिस स्तर पर और भाषा के जिस रचनात्मक विधान (अधिक सही होगा भाषिक संरचना) में अनुभव के विशिष्ट को रचता है, उसकी अद्वितीयता इसी रूप में मानी जाएगी।

ऊपर के विवेचन को दृष्टि में रखकर समझना आसान हो जाता है कि आधुनिक संवेदना के स्तर पर समसामयिक यथार्थ की तथ्यता का महत्व समाप्त हो चुका है। ये तथ्य चाहे आंचलिक जीवन से ग्रहण किए हों, या महानगर के जीवन की जटिलता से अथवा पश्चिमी पद्धतियों से। इनकी कमी, बहुलता, इनकी टकराहट, इनकी विषमताएं और जटिलताएं, इनका घात-प्रतिघात, वैज्ञानिक- प्राविधिक उन्नति के साथ इनके संचालन-संयोजन की दक्षता अपने आपमें आधुनिक

बोध के लिए बेमानी हैं। इसी प्रकार इन सबके विभिन्न प्रभाव और प्रतिक्रियाओं का अनुभव भी इस संदर्भ में महत्व नहीं रखता। फिर इस तथ्यता से मुक्त होकर यथार्थ वस्तुस्थिति रूप में अपनी समग्रता में हमारे अनुभव का विषय बनता है। तब हम वस्तुस्थिति में तथ्यों के क्रम को न पाकर और उसी से प्रतिक्रियाशील होने के बजाय उसके समस्त अंतर्संबंधों और अंतरावलंबनों को ग्रहण करना चाहते हैं। इस साक्षात्कार की प्रक्रिया में ही आधुनिक सर्जनशीलता है। अतः यहां सर्जन-कर्म का मतलब है वस्तुओं, स्थितियों, संबंधों, पात्रों, घटनाओं का सर्जन, इस स्तर पर सब वस्तुपरक ही हैं। इस यथार्थ में दो अंतर घटित होते हैं, एक तो जिस वर्तमान क्षण पर हम इसे ग्रहण कर रहे हैं, उस बिंदु पर असंख्य घटनाक्रम अवलंबित हैं, अतः उसे ग्रहण करने के लिए प्रत्यक्ष समतलीय आयामों के परे अनुभव प्राप्त करना होगा। दूसरे यथार्थ हमारे सर्जन का विषय नहीं है, और न उससे संवेदन ग्रहण करने का सवाल है। यह कहना भी यहां असंगत है कि हम यथार्थ बोध को रचना के स्तर पर अभिव्यक्त करते हैं। वस्तुतः रचनाकार अपनी संपूर्ण समसामयिक परिस्थिति में जिस यथार्थ के बोध अथवा संवेदन को भाषिक संरचना में उपार्जित करता है, वह सर्जन का यथार्थ है। इस प्रकार रचना के स्तर पर यथार्थ मात्र सर्जन रूप है।

यहां वस्तुपरक यथार्थ और भाषिक संरचना संबंधी आधुनिक दृष्टि को समझना अपेक्षित है। समतलीय आयामों के परे वस्तु के अनुभव का अर्थ क्या है ? वस्तु से यहां वस्तुपरक यथार्थ की समस्त परिस्थिति को लिया जा रहा है, जिसमें वस्तुओं की सारी परिस्थिति, इनके अंतर्संबंध, घटनाक्रम, पात्रता और आंतरिक प्रतिक्रियाएं आ जाती हैं। इसका सामान्य अर्थ लिया जा सकता है कि हम वस्तुओं को जिस प्रकार देखते हैं, वे वैसी नहीं हैं। प्रत्यक्षतः उनको जिन संबंधों में हम देखते या कल्पित करते हैं, वे उनसे नितांत भिन्न संबंधों में स्थित हैं। घटनाओं को जिस क्रम में हम समझते हैं, वस्तुतः उससे नितांत भिन्न और जटिल क्रमों में वे प्रवाहित हैं। हम उनको जैसी अलग और निश्चित मानकर चलते हैं, वैसी न वे अलग हैं और निश्चित ही। अपने वस्तुपरक यथार्थ अनुभव के बारे में हम आगे भी कह सकते हैं। पात्रों और घटनाओं, पात्रों और उनके चरित्र, चरित्र और उनकी संवेदनाओं, भावात्मक प्रक्रियाओं, उनसे उत्पन्न जटिलताओं के बारे में हमारा सारा अनुभव जैसा समतलीय और गुणात्मक है, वैसा वह सब नहीं है। हम प्रयत्न करते हैं कि नई वस्तुओं, नई परिस्थितियों को, नए घटनाक्रमों को, नए पात्रों और उनके नए संबंधों को खोज कर रचना का नया रूपविधान प्रस्तुत करें, पर हमारी सारी खोज समतलीय और गुणात्मक रह जाती है। अतः हम रचना में नए प्रकारों से आगे बढ़ने में असमर्थ रहते हैं।

इस आधुनिक दृष्टि के कारण मूल्य संबंधी अवधारणा में अंतर आया है।

मूल्य अपनी गयात्मकता में सर्जन रूप है। पर मूल्य के संबंध में प्राय: समझा जाता है कि वह निश्चित, निरूपित और परिभाषित अवधारणा है। वह कुछ ऐसा है जिसे जानकर समझकर स्वीकारा या अस्वीकारा जाता है। हमारी मूल्य-दृष्टि निरूपित और प्रतिपादित को ग्रहण करने की रहती है, अत: आधुनिक सर्जन मूल्यनिरपेक्ष कहा गया है। मूल्यों का अनुभव या संवेदन प्राय: भावात्मक स्तर पर माना गया है। सामाजिक मूल्यों नैतिक के संदर्भों से लेकर आध्यात्मिक साधनापरक मूल्यों के सारे संदर्भ भावपरक माने गए हैं। अत: रचना के क्षेत्र की सर्जनप्रक्रिया के समान मूल्यप्रक्रिया का यह सारा क्रम भावाविष्ट रहा है। इसी स्तर पर आधुनिक रचनादृष्टि को समस्त मूल्यसंदर्भों के प्रति निरपेक्ष माना गया है। शुद्ध रचनात्मक अनुभव अथवा अनुभव की रचनात्मकता की खोज में जिस प्रकार वस्तुयथार्थ अपनी निजता में रचा जाता है और यह रचना समस्त प्रभावों, प्रतिक्रियाओं और भावशीलताओं से मुक्त रहती है, उसी प्रकार वह भावात्मक मूल्यसंदर्भों से निरपेक्ष रहती है। आधुनिक रचनादृष्टि को अनैतिक, अवमूल्यन और निरर्थकता से उसी प्रकार संदर्भगत संबंध है जैसा कि नैतिकता, मूल्य और अर्थ के प्रसंग में है। यह रचना के स्तर का संबंध नहीं है, वहां उस स्तर पर यह रचनादृष्टि नैतिकताविहीन, मूल्यविहीन और अर्थविहीन मानी गई है।

जिस प्रकार रचना का यह नया आयाम यथार्थ की संपूर्ण निजता को सर्जनात्मक अनुभव में रूपायित करता है, इसका उद्देश्य रचना की प्रक्रिया को निरंतर बनाए रखने के अतिरिक्त कुछ नहीं है। पर इस निरपेक्ष स्थिति में भी यह प्रक्रिया संपन्नतर, पूर्णतर और जटिलतर व्यक्तित्व की खोज में प्रवृत्त है। इन रचनात्मक अनुभवों के माध्यम से संपन्नतर और पूर्णतर जीवन की ओर अग्रसर होना संभव है। आधुनिक युगबोध के स्तर पर भावात्मक अनुभव की समस्त रचनात्मक संभावनाएं सीमित और बाधित हो गई हैं। एक सीमा के बाद इस अनुभव को बौद्धिक तटस्थता के साथ अभिव्यक्त करने की क्षमता गुणात्मक स्तर की मौलिक उद्भावना करने में असमर्थ हो गई है। अत: आज रचनाकर्म को जारी रखने के लिए ही आवश्यक हो गया है कि आधुनिक अनुभव को इस नए आयाम में संयोजित किया जाए।

इस संदर्भ में आज के साहित्य की प्रवृत्तियों के आधार पर आधुनिकता को समझने की कोशिश की जा सकती है। एक ओर हमारे साहित्य में, क्या कविता, क्या नाटक और क्या उपन्यास-कहानी में, आंचलिक जीवन के चरित्रों की विविधता और वातावरण की समग्रता को ग्रहण करने का प्रयत्न किया जा रहा है, दूसरी ओर महानगरों के जीवन की जटिलता, प्राविधिक संपन्नता, चरित्रों की जटिलता और संबंधों के उलझावों को प्रस्तुत करने का उपक्रम चल रहा है। पर इसप्रकार के समस्त रचनात्मक प्रयोग समतलीय हैं, इनमें ऐसे आयामों का ही

उपयोग है जो अनेक पहलों में भी हर पहल के समतल को ही व्यंजित करते हैं। इस प्रकार के प्रयत्नों के माध्यम से वस्तुत: उन समस्त वस्तुओं, परिस्थितियों और पात्रों के संबंधों को व्यक्त किया ही नहीं जा सकता है, जिनके अंतरावलंबन में आज उनकी स्थिति का रचनात्मक अनुभव संयोजित किया जाना अपेक्षित है। किसी व्यक्ति, घटना अथवा परिस्थिति के बारे से किसी भी एक पक्ष से, दृष्टि से, कोण से सोचना उतना ही गलत है, जितना कि अनेक पक्षों, दृष्टियों या कोणों से सोचने का मिला-जुला रूप। जैसे कि देश-काल के किसी भी बिंदु, अर्थात वर्तमान क्षण पर न जाने कितनी स्थितियां, घटनाएं, कितने क्रम, कितने चरित्र एक साथ प्रवाहित हैं, जो कि एक विंदु पर सीमित करके देखने से समतलीय लगते हैं। इन असंख्य क्रमों को एक साथ प्रस्तुत करना आधुनिक रचनाविधान है। अत: आधुनिक संवेदना में एक नया आयाम रचना के स्तर पर जुड़ जाता है।

इस आयाम पर रचना में विसंगति (ऐब्सर्डिटी), अनाटक, अकविता, वस्तु-विहीनता आदि को समझा जा सकता है। इन सारी अस्वीकृतियों के पीछे यही भाव छिपा हुआ है कि जो कुछ जिस रूप में साहित्य में अभिव्यक्त होता रहा है, वह उन रूपों में आज के संपूर्ण अनुभव को व्यंजित करने में असमर्थ है। और आज का रचनाकार संपूर्ण अनुभव के ऐसे संकेत एक दूसरे से प्रत्यक्षत: असंबद्ध क्रमों में इस प्रकार संयोजित कर देता है कि उनसे यथार्थ की वस्तुस्थिति के बोध के स्थान पर यथार्थ का बहुआयामी रचनात्मक अनुभव ग्रहण किया जा सके। इस प्रकार के नाटक को देखकर अथवा उपन्यास अथवा कविता को पढ़कर हम किसी स्थिति, घटना, पात्र या चरित्र का कोई रूप सामने नहीं बना पाते, पर इनके माध्यम से वस्तुओं का पूरा अंतरावलंबन, संबंधों की बहुआयामी जटिलता, चरित्रों की एक से दूसरे में विकसित होने की असीम संभावनाएं व्यंजित होती हैं। रचना के इस मौलिक अंतर को समझे बिना आधुनिकता को ग्रहण कर पाना भी संभव नहीं है। विवरण और अलंकरण की बहुलता से वस्तु का रूप व्यंजित होता है, रेखाएं उनके संबंधों, आयामों और घनत्व को अभिव्यक्त करती हैं। अत: आज की असंगत या विसंगत, वस्तुविहीन अथवा संयोजनविरोधी रचनाओं में परंपरित वस्तुयोजना, घटनाक्रम तथा चरित्रचित्रण को अस्वीकार कर दिया गया है। केवल उनके कुछ मूलभूत भाषिक सूत्रों (रेखाओं) के सहारे रचनात्मक आयाम की सृष्टि की जाती है। प्रारंभ में कहा गया है, अन्य कलामाध्यमों के समान भाषा का प्रयोग नितांत शुद्ध और मुक्त रचना के स्तर पर संभव नहीं है। भाषा हमारे जीवन की समग्र मानसिक प्रक्रिया के रूप में क्या व्यक्ति, क्या समाज और क्या इतिहास, सभी स्तरों से अभिन्न है। इसी कारण वस्तु की यथार्थगत संपूर्णता को बहु आयाम के रचनाविधान में ग्रहण करने के लिए जीवन की परिस्थितियों, घटनाओं और चरित्रों के कुछ भाषिक सूत्रों का उपयोग आवश्यक हो

जाता है। वस्तुतः इन्हीं सूत्रों से रचना का सारा स्वरूप निर्मित होता है और ये आधुनिक जीवन की जटिल, सघन, बहुआयामी परिस्थिति को व्यंजित करने के नए प्रतीक, तथा बिंब हैं। समतलीय ढंग से देखने से यह परिस्थिति विसंगत जान पड़ती है, पर यह हमारे जीवन का यथार्थ है, परिस्थिति के रूप में और मूल्यों के स्तर पर भी।

आधुनिकता : सर्जनशीलता का नया संदर्भ

सोचने-समझने को आगे बढ़ाने के लिए किसी बात पर बहस चलाना जरूरी है, पर उसे सही दिशा देने के लिए उससे भी ज्यादा जरूरी है कि उसकी सीमा निर्धारित कर ली जाए, उसमें प्रयोग में आनेवाले शब्दों की ठीक परिभाषा ढूंढ़ ली जाए और फिर हम उनका सही और निश्चित उपयोग करें। हिंदी में आधुनिकता की चर्चा शुरू हुए लगभग एक दशक हो रहा है, इस संबंध में काफी ऊहापोह हुआ है और बहुत सी महत्व की बातें भी कही-सुनी गई हैं। मैं इस संबंध में तभी से शंकित और किंचित अनिश्चित रहा हूं। इसलिए नहीं कि उस समय आधुनिकता की चर्चा की नहीं जा सकती थी या उसका कोई प्रसंग अथवा संदर्भ नहीं उपस्थित था। मन में आगा-पीछा सबसे अधिक इसलिए था कि पांचवें दशक से शुरू होकर लगभग छठे दशक के अंत तक नवलेखन और नई कविता की सारी बहस में साहित्य की रचनाशीलता के अनेक तत्वों और स्तरों को एक साथ समेटा जा सका था, और इसके बावजूद स्पष्टता के साथ कुछ कहा जा सका और साहित्य के उस युग की अनेक अंशों में सही व्याख्या भी की जा सकी थी। प्रयोगशील रचनादृष्टि से शुरू होकर नई कविता की अभिव्यक्ति तक समस्त रचनाप्रक्रिया को कहीं एक स्तर पर रख कर देख सकना संभव और आसान था। छायावादी काल्पनिक सौंदर्य-विधान, उत्तर छायावादी भावावेग की भाषा तथा प्रगतिशीलों की विषयप्रधान दृष्टि के विपरीत इन सबमें सौंदर्य की वस्तुपरक दृष्टि, अनुभव की भाषिक अभिव्यक्ति की खोज और यथार्थ के मानवीय अनुभवपरक संदर्भ पाए जा सकते हैं। पिछली रोमांटिक कल्पनाशीलता, भावावेश और उत्साह के विपरीत इनका रोमांटिक मिजाज अधिक तटस्थ और यथार्थसंपृक्त है।

इन और इसी प्रकार की अन्य प्रवृत्तियों की चर्चा के अंतर्गत प्रयोगशील से लेकर नई कविता तक की सारी विविधता को समेटा जाता रहा है और एक तरह से समेटा जाना संभव भी था। इसमें अज्ञेय, माथुर, शमशेर, भारती से लेकर भारतभूषण, नरेश, सर्वेश्वर, जगदीश, सबको एक साथ समेटा जा सकता था। शकुंत, अजित और केदार जैसे अनेक कवियों को इसके अंतर्गत समेटना आसान रहा है। मुक्तिबोध का सारा मिजाज एक स्तर पर उसके साथ खप जाता है। केवल रघुवीर सहाय और लक्ष्मीकांत उस युग के ऐसे चर्चित कवि हैं जिनका कुछ अंश इस माहौल में पूरी तरह खप नहीं पाता, फिर भी उनकी चर्चा और व्याख्या इस स्तर पर की जा सकती थी और की भी गई। ऐसा जरूर रहा है कि छठे दशक के अंतिम दौर में कुछ कवियों की संवेदना और अनुभव का संदर्भ बदलने लगा और उनकी भाषा में अभिव्यक्ति की क्षमता के नए आयाम की खोज का आभास

मिलने लगता है। पर उस समय तक न तो यह नया अनुभव-संदर्भ ही उतना स्पष्ट हो सका था और न अभिव्यक्ति का भाषित स्वरूप ही अपने को निरूपित कर सका था, अतः आधुनिकता की उस बहस के प्रति शंकित होना स्वाभाविक था।

एक स्थिति यह हो सकती थी, जो अधिक सही होती कि अपने आपको संवेदन और सर्जन के स्तर पर पिछलों से अलग पाने वाले कृतिकार इस बहस को आगे बढ़ाते और अपने रचनात्मक अनुभव और भाषित स्वरूप की खोज के साथ अपनी इस सर्जनशील आधुनिकता की व्याख्या करने की चेष्टा करते। और बहस का दूसरा ढंग यह रहा, जिसकी मुझे आशंका थी कि उसको आगे बढ़ाने का अधिकांश श्रेय प्रयोगशील तथा नई कविता के कवियों को रहा। उसका नतीजा साफ था कि उन्होंने या तो अपने सारे पिछले अनुभव और प्रयोगों के माध्यम से आधुनिकता को जानने-समझने और परखने की चेष्टा की, जिसका सीधा माने रहा है कि आधुनिकता वह है जो हम हैं, अथवा उन्होंने यूरोप के संदर्भों से आधुनिकता की चर्चा को खोज कर स्पेंडर के साथ उसकी संभावना को समाप्त भी घोषित कर दिया। और सारी बहस का एक यही प्रयोजन हो गया कि या तो आधुनिकता की व्याख्या हमारे माध्यम से की जा सकेगी अथवा हम आधुनिकता को ही बेकार सिद्ध कर देंगे। ऐसी स्थिति में बहस चलाने में किसकी रुचि हो सकती थी, हां, जब कभी इस बहस को सही ढंग से मोड़ देने की कोशिश की गई तो उसे बराबर उलझा दिया गया। प्रतिष्ठाप्राप्त नए कवियों ने जानबूझ कर इसे आगे नहीं बढ़ने दिया, क्योंकि यहां उनके लिए नई चुनौतियां थीं और उनका सामना करने के लिए वे तैयार नहीं थे। आगे आने वाले नौजवान कवि-लेखक न रचना के स्तर पर और न चिंतन के स्तर पर इस समस्या से लगाव का अनुभव कर सके, उन्होंने अपने पूर्ववर्तियों का रास्ता स्वीकार कर लिया। यह जरूर है कि उनसे अपने को अलग करने से भी अधिक मानने की अकुलाहट में उन्होंने नई भंगिमाओं, पैंतरों और तेवरों में इन पूर्ववर्तियों को अस्वीकारने की कोशिश की है। लेकिन मजे की बात है कि या तो ये बहस से कतराते हैं और कृतिकर्म को पिछले बिंबवादियों, प्रभाववादियों और आज के बीटनिकों की तरह मात्र और सीधे अनुभव तथा अभिव्यक्ति की योगावस्था मानते हैं, अथवा पिछली शब्दावली का ही अदल-बदल कर या घुमा-फिरा कर प्रयोग करते हैं।

आधुनिकता की बहस जहां की तहां रह गई, इनको उससे क्या लेना-देना था। पिछले नए कवियों ने अपने रचनाकर्म के लिए जो नया क्षेत्र खोजा था, वह उनको पर्याप्त लगा। अपने से पिछले कवियों से अपनी भिन्नता प्रतिपादित करने के लिए उन्होंने अपने काव्यक्षेत्र को अलग कर लिया था, उन्होंने, मसलन प्रकृति के सौंदर्य को छोड़कर आम जिंदगी की चीजों पर अपना अनुभव केंद्रित किया। इससे उनकी भाषा बदली, क्षेत्र के बदलने से यह जरूरी था। लेकिन भाषा से यहां

मतलब काव्यभाषा से नहीं है, क्योंकि यहां भी रूप-रंग का अंतर ही आया अर्थात उन वस्तुओं के नाम, उनसे संबद्ध क्रियाएं, विशेषण आने लगे जिनके बारे में कविताएं लिखी गईं। इससे मुहावरों का बदलना भी समझा जा सकता है, उपमानों, प्रतीकों और बिंबों के प्रयोग में नयापन भी माना जा सकता है। पर इस वस्तु तथा स्थितियों के अंतर के बावजूद उनकी अनुभव की भावात्मक गहराई को व्यक्त करने की कोशिश पूर्ववर्तियों जैसी रही, हिमालय तथा राजपथों की जगह यह भावात्मक गहराई उन्होंने टोले और गली से प्राप्त की। यहां अनुभव के प्रकार-भेद का सवाल नहीं उठा, वस्तुत: भाषिक ढांचा भी नहीं बदला। पर यह अंतर पिछलों से अपने को अलगाने के लिए काफी था, इसके सहारे वे प्रतिष्ठित भी हो गए।

इधर इन कवियों में महनीय और शाश्वत साहित्य की चिंता को भी इस संदर्भ में सही रूप में समझा जा सकता है। उनके मन में बारबार यह सवाल उठता है कि उनका साहित्य क्या स्थाई रह सकेगा, उनमें कौन आगे आने वाले युगों का कवि हो सकेगा। अब वे महान काव्य-परंपरा की विरासत की चर्चा करने लगे हैं और रचना के स्तर पर क्षण, अस्तित्व, जीवन, मरण, अहं, आत्मा, रहस्य की दार्शनिक भंगिमाओं में अधिकाधिक प्रवृत्त होते गए हैं। यह सब छायावादियों की आध्यात्मिक और दार्शनिक काव्यचेष्टाओं की याद दिलाता है, जैसे अपनी सीमाओं का एहसास उन्हें रचना की इन भावभूमियों की ओर ले जा रहा हो। विशद, महनीय और शाश्वत होने की यह रचनात्मक आकांक्षा गहराइयों के साथ शिखरों की तलाश भी है। कौन क्या पाने वाला है, इस सवाल को छोड़कर यहां यह कहा जा सकता है कि आधुनिकता की बहस से इसका कोई लगाव नहीं है। हां, यह जरूर कहा जा सकता है कि ये कवि अपने सर्जनकर्म में उस सीमा तक पहुंच चुके थे जहां अनुभव का प्रकार ही उनको बदलता हुआ महसूस हो रहा था और कम से कम तीन-चार कवियों ने उसके अनुरूप भाषिक ढांचे की खोज का प्रयास भी किया। वस्तुत: अनुभव के इस एकदम नए प्रकार को सही ढंग से निरूपित और व्याख्यायित करने तथा उसके अनुरूप भाषिक ढांचा खोजने में ही आधुनिकता की बहस उभर सकती थी। पर स्थिति और वस्तु को भावात्मक सभी संदर्भों से अलग कर उनको उनके निजी 'पन' में ग्रहण करने की चेष्टा से आगे ये कवि बढ़े नहीं, और इसी कारण उन्होंने भाषा को भी मात्र भाषिक स्तर पर उठाया तो, पर जिस प्रकार वस्तुओं और स्थितियों के आपसी संबंधों और आंतरिक संघटनों को नए अनुभवप्रकार में वे संयोजित नहीं कर पाए, उसी प्रकार भाषिक संरचना का उपयुक्त रूप भी वे नहीं खोज सके।

और आधुनिकता की बहस भटक गई, भटकती रही है। कभी इसे यथार्थ के सीधे अनुभव के रूप में कहा गया, बिना इस बात की चर्चा किए कि

आखिर यह यथार्थ का रूप तथा प्रकार कैसा है। अन्यथा कोई भी काव्य यथार्थ से भिन्न किसका अनुभव माना जाता रहा है। उसे इतिहासबोध से संपृक्त माना गया, बिना इतिहास के प्रति अपनी दृष्टि को सही ढंग से निरूपित किए ही। इतिहास की प्रक्रिया को सघन और तीव्र करने की चेष्टा का संबंध भी इससे स्थापित किया गया, परंतु उसके इस उपयोग की दृष्टि व्याख्यायित नहीं हो सकी। क्षण के अनुभव, अनुभव की अप्रतिमता, सर्जन की अद्वितीयता आदि की चर्चा के बावजूद इनको भावात्मक अनुभव की गहराई, संपन्नता, विविधता और जटिलता के आयाम से भिन्न विवेचित नहीं किया गया, किया जा सका। यही कारण है कि नई कविता की चर्चा आधुनिकता के वास्तविक संदर्भों से हटकर नई कहानी के रेतीले दलदल में विलुप्त हो गई। नई कहानी सचेतन कहानी आदि के भटकावों में होती हुई अकहानी तक पहुंच गई, पर उनकी चर्चा का ढंग जैसा सपाट रहा वैसा ही उनका रचनात्मक अंतर विषयवस्तु के प्रस्तुतीकरण में ही सिमट आता है। और सब मिलाकर कहानियों की इस प्रकार की साहसिकता जो भूखी पीढ़ी तक में दिखाई देती है, स्त्री के शरीर को संपूर्णतः मुक्त रूप से विषय बना लेने में है। वह भी वस्तुपरक तटस्थता के साथ नहीं, पूरे उत्सवभाव के साथ। यह विषय की नवीनता चौंकाने वाली हो सकती है, उसमें गहराई और ऊंचाई (भावात्मक अनुभव की) की खोज जो भी हो और जैसी भी हो, पर अनुभव के नए प्रकार, जो यथार्थ का अलग आयाम ही है, से इसका कोई संबंध नहीं है और न भाषा की आधुनिक सर्जनक्षमता से उसका कोई प्रयोजन है। दुर्भाग्य की बात है, कहानी के इस माहौल का प्रभाव एक सीमा तक कविता पर भी पड़ा।

आधुनिकता की चर्चा साहित्य से शुरू हुई, कहा जा सकता है कि रचनाकार अधिक संवेदनशील और जागरूक होता है, अतः आधुनिकता का बोध भी सबसे पहले उसमें होना स्वाभाविक था। इसका तात्पर्य यह माना जाएगा कि अपने अपने ढंग से हमारे समाजशास्त्री, राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री, इतिहासकार, वैज्ञानिक और दार्शनिक आधुनिक सर्जनशीलता को ग्रहण करने में संलग्न रहे हैं। कहा जा सकता है कि ये सभी अपने अपने क्षेत्रों में सर्जनात्मक ढंग से सक्रिय रहे हैं और उनकी यह सर्जनशीलता आधुनिक है। परंतु उनकी उपलब्धियों और कृतियों को छोड़ भी दिया जाए, तो काशी में पहली बार जब उनके सामने यह सवाल उठाया गया, तब उनकी प्रतिक्रिया इसी प्रकार की थी कि इन साहित्य के क्षेत्र के लोगों को आधुनिकता से क्या वास्ता, पश्चिम के माध्यम से आधुनिकता तो वे ला ही रहे हैं। यही कारण है कि जब कभी यह प्रश्न उठाया गया कि हमको अपने देश के मानस को आधुनिक सर्जनशीलता से प्रेरित करना है, तो अन्य शास्त्रों के लोग अपने अपने शास्त्रों में परिभाषित और निर्धारित आधुनिकता का हवाला देकर इस चर्चा को प्रायः असंगत सिद्ध करने लगे। यहां उन लोगों की बात नहीं की जा

रही है जो दृष्टिविशेष से उपर्युक्त गोष्ठी के आयोजक ही थे। यह बात उतने ही बल के साथ अधिक धूमधाम से आयोजित शिमला की 'कांफ्रेंस' के बारे में भी कही जा सकती है, जिसमें इस विषय पर विचार करने के लिए अधिक प्रसिद्ध विविध विषयों के लोग एकत्र हुए थे। उनकी चर्चाओं से यही झलकता रहा कि आधुनिकता के किसी सर्जनात्मक रूप का उन्हें कोई एहसास नहीं है, पश्चिम और पूरब की चर्चा में सारा समय बिता दिया गया, उसके साथ विज्ञान और प्रविधि यंत्रीकरण और उद्योगीकरण, व्यक्ति-स्वाधीनता और सामाजिक प्रतिबद्धता आदि की चर्चाएं अनेक संदर्भों में घूम-फिरकर आ गईं। पर आधुनिकता की सर्जनात्मक चुनौती का स्वरूप किसी के सामने स्पष्ट नहीं था। यहां इस बात का उल्लेख इस कारण कर रहा हूं कि आधुनिकता का गहरा संबंध संपूर्ण समसामयिक परिस्थिति से है और यदि इसका सही अनुभावन और चर्चा साहित्य में नहीं की जा सकी, तो हमारे जीवन के किसी भी क्षेत्र में इसका बोध नहीं था। जिस प्रकार रचना के क्षेत्र में अनुभव के नए आयाम की खोज के बिना आधुनिकता की चर्चा संभव या सार्थक नहीं थी, उसी प्रकार ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अपनी निजी स्थिति के बोध के बिना किसी प्रकार सर्जनात्मक हो सकना संभव नहीं था।

इस पीठिका पर यदि हम विचार करना शुरू करते हैं तो आज के लेखन में समसामयिक होने की चेतना और चेष्टा किस सीमा तक है और उसकी अभिव्यक्ति का स्वरूप क्या है, ये प्रश्न सामने आते हैं। यहां यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि समसामयिक होने की चेतना मात्र सामयिक होना नहीं है। आज लेखन में सामयिक होने के स्थान पर समसामयिकता का महत्व है। ऐसा कहा जाता रहा है कि साहित्य युग से संबद्ध होता है, युग का दर्पण होता है, युग की अभिव्यक्ति है। पर यह इन अर्थों में लेखन का समसामयिक होना नहीं है। युग अर्थात समकालीन जीवन साहित्य में प्रस्तुत होता है, इसको किसी प्रकार से कहा जाए, पर इससे लेखन के सर्जनकर्म की सही व्याख्या नहीं होती। आधुनिकता के सवाल को छोड़ कर भी मात्र सामयिक या युगीन होना लेखन अर्थात सर्जन की कभी पूरी सार्थकता नहीं माना गया है। जहां तक आज के लेखन की बात है, उसमें समसामयिक सर्जनशीलता की खोज को सर्वाधिक महत्व मिला है।

किसी साहित्य में सामयिक परिवेश अर्थात युगजीवन की पद्धतियां, संस्कार, संस्थाएं, घटनाएं, परिस्थितियां परिलक्षित होती हैं। पर यह उस युग की सर्जनात्मक प्रक्रिया का स्वरूप नहीं है और न दिशा ही। अधिक से अधिक यह युगविशेष का जीवनलेखन का विषय मात्र है, तथ्य मात्र है, उसके रचनात्मक सत्य और वस्तु का आधार माना जा सकता है। दोनों दृष्टियों में अंतर है, एक के अनुसार इस जीवन को उसकी सारी विविधता, जटिलता और संपन्नता के साथ साहित्य में प्रस्तुत किया जाता है, रचा जाता है, यह भी कहा जा सकता है और दूसरी के अनुसार

यह सब लेखन के लिए कच्चा माल है जिसके आधार पर रचना की जाती है। ये दोनों दृष्टियां अलग होकर भी एक स्तर पर संबद्ध हैं, अतः आधुनिक रचनादृष्टि नहीं है। दोनों सर्जनशीलता में अपने युग से बंध जाते हैं, यह अलग बात है कि एक जीवनयथार्थ अर्थात यथातथ्य को अधिक से अधिक सही ढंग से प्रस्तुत कर के अपने को सफल समझ लेता है और दूसरा उसके आधार पर जीवन के नए 'पैटर्न' रचता और खोजता है। परंतु दोनों के अनुभव का प्रकार एक ही है।

सामयिक परिवेश का एक रूप युगीन मूल्यदृष्टि भी है। प्रत्येक युग सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक, धार्मिक तथा दार्शनिक मूल्यों के अनुसंधान में भी प्रवृत्त रहता, इस प्रयत्न में उसकी दिशा, सीमा, क्षेत्र और बल अन्यों से अलग और भिन्न होते हैं। इसका माने है कि किसी युग में धार्मिक मूल्यों के अनुसंधान की प्रवृति होती है, तो दूसरे में दार्शनिक मूल्यों को उपलब्ध करने की चेष्टा देखी जाती है। अन्य किसी युग में इनकी अपेक्षा नैतिकता या सामाजिक न्याय अथवा आर्थिक उत्पादन की दृष्टि प्रधान हो सकती है। इतना ही नहीं, हर युग अपने व्यापक मनोभाव और सर्जन की क्षमता अथवा आंतरिक आवश्यकताओं के अनुसार इन मूल्यों की प्रक्रिया की सीमा तथा तथा दिशा को निर्धारित भी करता है। व्यापक रूप में इसे सांस्कृतिक मूल्यदृष्टि अथवा युग की निजी सर्जनात्मक प्रतिभा कहा जा सकता है। किसी युग का साहित्य तत्कालीन इन चेष्टाओं, प्रवृत्तियों और प्रक्रियाओं से गहरे स्तर पर संबद्ध होता है, अतः न केवल उसमें रूपायित तथा घटित होते मूल्यों को प्रतिबिंबित और प्रतिफलित होते देखा जा सकता है, वरन उस युग के श्रेष्ठ साहित्य में, कृतियों में इन मूल्यों की सर्जनशीलता को गतिशील होते देखा जा सकता है। युगविशेष का श्रेष्ठ साहित्य मूल्यों का स्थिरीकरण नहीं होता है, वह मूल्यों का सर्जन करता है।

जहां तक युग की यह मूल्यदृष्टि उस युगविशेष के जीवन की सर्जनात्मक प्रक्रिया, स्थिति और संभावना को व्यक्त और प्रतिफलित करती है, वह लेखन अर्थात साहित्य (व्यापक रूप में कला) की रचनाशीलता का स्वरूप, प्रकृति और दिशा का निर्देश भी करेगी। एक स्तर पर और एक सीमा तक साहित्य सर्जनशीलता धर्म, दर्शन और समाज के चिंतन की सर्जनप्रक्रिया के समान और समानांतर देखी जा सकती है। पर अन्य क्षेत्रों में मूल्यदृष्टि से सर्जन की प्रवृत्ति मूल्यों को निरूपित और अन्वेषित करने की चेष्टा में सत्य की स्थापना करने लगती है, जिसका मतलब है कि मूल्य स्वतः स्थिर और निश्चित होने लगते हैं। जबकि साहित्य में मूल्य सर्जनात्मक रूप में ही स्वीकृत होते हैं। जब यह मूल्यदृष्टि सर्जनात्मक होने के बजाय परंपरित हो जाती है, वह लेखन की रचनाप्रक्रिया से भी असंबद्ध हो जाती है। तब उसका विषय के रूप में इस्तेमाल भर हो सकता है। प्रत्येक युग का साहित्य अपनी सर्जनशीलता के इस चरण में रचनाकर्म के बजाय किसी सिद्धांत,

विचारधारा, संप्रदाय या दल का प्रचारक रह जाता है, अथवा यदि इनसे मुक्त हुआ तो किसी साहित्य-रूढ़ि, परंपरा या रीति के अनुकरण में और उसमें तरह तरह के चमत्कार उत्पन्न करने में अपनी सार्थकता खोजने लगता है।

आज साहित्य के बारे में हम बिलकुल दूसरे ढंग से सोचने लगे हैं, उसकी सर्जनशीलता को मूल्यसापेक्ष स्वीकार नहीं किया जाता। यह मूल्यनिरपेक्षता आधुनिक दृष्टि है और इसके कारण लेखन में अनुभव के प्रकार का अंतर घटित हुआ है। पहले अनुभव के क्षेत्र में, उसकी व्यापकता, सघनता या सूक्ष्मता में अंतर पड़ जाने से सर्जनप्रक्रिया के बदलाव को स्वीकार किया जाता रहा है। इन परिस्थितियों में रचना का अनुभव बदला हुआ जान पड़ता है और यह भी कहा जा सकता है कि यह अंतर गुणात्मक है। दो अलग युगों के साहित्य अपनी सर्जनचेष्टा में इस प्रकार भिन्न होते हैं, पर आधुनिक सर्जनप्रक्रिया के अनुभव का अंतर मात्र गुणात्मक न होकर उसे बिलकुल भिन्न आयाम पर संयोजित करता है। यह आयाम अनुभव की मूल्यनिरपेक्षता से संबद्ध है, क्योंकि इस प्रकार सर्जनप्रक्रिया में वस्तु, स्थिति, पात्र आदि अपने 'पन' अथवा 'निजता' के अनुभव में रचे जाते हैं, उनके साथ भावात्मक प्रतिक्रिया अथवा स्थिति का संबंध नहीं रह जाता। यहां भाषा का सवाल भी बिलकुल नए रूप में उपस्थित होता है, क्योंकि आधुनिक दृष्टि के अनुसार हमारा सारा अनुभव भाषिक है या कह सकते हैं कि भाषिक संरचना के ही अनुभव की स्थिति और प्रक्रिया है। अतः इस नए अनुभव प्रकार में भाषा को भावात्मक संदर्भों और परिस्थितियों से अलग कर उसके शुद्ध वस्तुपरक अर्थात 'पन' से संबद्ध रूप में ग्रहण किया जाता है। और इस प्रकार वस्तुओं के परिस्थितिगत नए आयामों को अनुभावित करने के लिए शब्दों के सही प्रयोगों में अन्वेषित करने की चेष्टा की जाती है।

परंतु आधुनिकता की सर्जनप्रक्रिया की जांच-पड़ताल करने के पहले उसकी परिस्थिति पर विचार कर लेना जरूरी है। ऊपर कहा गया है कि आधुनिक सर्जनशीलता मूल्यनिरपेक्ष है। इसका मतलब है कि किन्हीं समसामयिक निश्चित तथा स्वीकृत, यहां तक उपलब्ध मूल्यों की सापेक्षता में रचनादृष्टि को बांधना उसकी रचनाशीलता को ही अस्वीकार करना है। अपनी सर्जनात्मक प्रक्रिया में ही मूल्य अनुभावित होता है, किसी क्षेत्र के मूल्य के बारे में यह सही है। जब वह निरूपित और निर्धारित रूप में आ जाता है, तब भी हम उसका अनुभव पुनर्सर्जन के स्तर पर ही कर सकते हैं अथवा वह हमारे लिए निरर्थक हो जाता है। यही कारण है कि आधुनिक दृष्टि रचना में सर्जनप्रक्रिया की निरंतरता को मानती है और इसीलिए मूल्यों को निरूपित और व्याख्यायित करने के स्थान पर वह उनके बोध तथा अनुभावन की प्रक्रिया है। वस्तुतः आधुनिकता मूल्यनिरपेक्ष इसी अर्थ में है कि सर्जनशीलता के रूप में स्वतः मूल्यों का स्रोत है।

इस दृष्टि से आज का लेखन सामयिक परिवेश, व्यापक युगीन जीवन, संपूर्ण वैयक्तिक और सामाजिक परिस्थितियों और इनमें परिलक्षित तथा सक्रिय होने वाले परंपरित तथा सामयिक मूल्यों से गहरे स्तर पर संपृक्त होने पर भी अपनी सर्जनप्रक्रिया में इनसे असंबद्ध है। आधुनिक दृष्टि इनके यथार्थ रूप को प्रस्तुत करने की, अंकित अथवा व्यंजित करने की नहीं है, वह इनके प्रति स्वतः रचनात्मक यथार्थ का रूप है। आज का लेखन भी विषय, कथ्य, सामग्री, आधार रूप में इस सबको स्वीकार करता है। इन्हीं के बीच वस्तु, उसकी स्थिति, अंतर्वर्ती संबंधों के यथार्थ अर्थात उनके 'पनों' के सर्जनात्मक अन्वेषण में वह प्रवृत्त होता है। इन सबके द्वारा सामयिक परिवेश के यथार्थ का निर्माण होता है, पर इस यथार्थ का बोध रचनात्मक यथार्थ के बोध से भिन्न है। जैसा कहा गया है, आधुनिक सर्जन में यह अंतर मात्र गुणात्मक न होकर आयाम का है। यह रचनादृष्टि का प्रतिफलन है और यह बोध सर्जनात्मक प्रक्रिया का ही रूप है। यथार्थबोध के इस स्तर पर अनुभव में नया आयाम तथा परिप्रेक्ष्य, दोनों उद्‌घाटित होते हैं। इसका मतलब हुआ कि आधुनिक सर्जनदृष्टि अनिवार्यतः समसामयिकता को आधुनिकता में प्रतिफलित करती है।

समसामयिकता सामयिक परिवेश का गहरा और समग्र बोध मानी जा सकती है। पर आधुनिकता समसामयिकता मात्र नहीं है अर्थात उसे परिवेश के गहरे से गहरे और समग्र से समग्र अनुभव के रूप में नहीं ग्रहण किया जा सकता। सामयिक जीवन, परिस्थिति, घटनाएं, उसकी जटिलता, विविधता और संपन्नता आदि को अंकित, चित्रित या व्यक्त अथवा व्यंजित करना आज का कृति-कर्म नहीं है। समसामयिक होने में परिवेश के रूप में गहरा लगाव महसूस करना स्वाभाविक है, पर इस अर्थ में किसी भी युग का महत्वपूर्ण साहित्य समसामयिक होता है। पर जिस प्रकार इतिहास की जानकारी पिछले अनेक युगों में रही है और अपने ढंग से वे उसका उपयोग भी जानते और करते रहे हैं, परंतु आज इतिहास की जागरूकता और उसकी प्रक्रिया को समझने की जैसी चेष्टा की जा रही है, वैसी पहले कभी नहीं की गई, उसी प्रकार समसामयिक होने की जागरूकता तथा चेष्टा आज के युग की विशेषता है। इतिहास को जान कर उससे मुक्त होने की प्रक्रिया के समान यह समसामयिक होने के गहरे अनुभव को पाकर उससे मुक्त होना आधुनिक संस्कार माना जाएगा।

पहले कहा गया है कि आधुनिकता मूल्यदृष्टि नहीं है। इस अर्थ में इस रचना-चेष्टा से न कोई मूल्य निरूपित हो सकता है और न व्याख्यायित ही। इसका माने है कि इस चेष्टा में यदि मूल्य निर्धारित या व्याख्यायित हो रहे हैं या उसकी चेष्टा की जा रही है, तब आधुनिक दृष्टि से उसकी सर्जनक्षमता पर ही संदेह किया जाएगा। इसी प्रकार वह मूल्योपलब्धि के रूप में भी स्वीकार नहीं की जा सकती।

उपलब्धि में सर्जन की प्रक्रिया का बोध तो होता है, पर वह एक ऐसी दृष्टि है जो सर्जन के अंत और परिणाम पर टिकती है। और आधुनिकता रचनादृष्टि है, शुद्ध सर्जनशीलता। उसका न कोई आदि, मध्य तथा अंत है, न परिणाम ही। अत: वह एक ऐसी प्रक्रिया है, जो मूल्यनिरपेक्ष है, पर उसमें मूल्यों का बोध रचना के स्तर पर बना रहता है। इस अर्थ में उसे मूल्यों का स्रोत भी कहा जाएगा तथा वह यथार्थ बोध का नया अनुभवसंदर्भ भी प्रस्तुत करती है।

यही कारण है कि आधुनिकता को मात्र आज के सामयिक परिवेश के रूप में देखना भ्रामक है। कई बार अतिनागरीकरण को आधुनिक मान लिया जाता है, उसकी यांत्रिकता, जटिलता और अमानवीयता को इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इसके विपरीत आंचलिक जीवन पर बल दिया जाता है। उसके वर्तमान स्वरूप के चित्रण को आधुनिक मानने का आग्रह प्रकट किया जाता है। परंतु यहां यह बहस बेकार है कि लेखक विश्वनगरों के जीवन की जटिलताओं से उलझता है, उसकी आंतरिक सूक्ष्म स्थितियों को पकड़ने की चेष्टा करता है अथवा गांवों के आंचलिक जीवन की बढ़ती हुई बाहरी उलझनों में पड़ता है। परिवेश से संपृक्त लेखक सारी समस्याओं से संसक्ति का गहरा एहसास कर सकता है, वे चाहे बाहरी हों या भीतरी। बाहर-भीतर, नगर-गांव, प्राकृतिक-यांत्रिक आदि अंतर यथार्थ के क्षेत्रों के अंतर मात्र हैं। आधुनिकता का मुख्य सवाल है कि लेखक इनका अनुभव किस प्रकार करता है। इस प्रकार आज का लेखक यथार्थ से नहीं, यथार्थ के बोध से संबद्ध है। यह बोध भी सर्जन के स्तर पर वस्तु के प्रति हमारी भावात्मक प्रतिक्रिया नहीं, वरन वस्तु के 'पन' का सर्जनात्मक अनुभव है। इस स्तर पर जैसा कहा गया है वस्तुगत अनुभव का एक नितांत भिन्न आयाम संयोजित तथा संघटित किया जाता है और इसके लिए शब्दों के नए अर्थ की खोज की अपेक्षा उनके प्रयोग की नई संभावनाएं ही अन्वेषित करनी होती हैं।

इसके पहले कि आधुनिकता अर्थात आज की सर्जनशीलता के (साहित्य में) नए संदर्भ को विवेचित किया जाए आज के व्यापक जीवन में सर्जनात्मक अभिव्यक्ति के रूप में आधुनिकता के प्रतिफलन को देखना आवश्यक है। कृतिकार अपने युग के समसामयिक जीवन की वस्तुस्थिति से उसी तरह संपृक्त होता है जैसा कोई भी अन्य जागरूक और संवेदनशील व्यक्ति होगा। पर उसके लिए समसामयिक सर्जन की प्रक्रिया अधिक महत्व की है, क्योंकि उसकी निजी रचनाप्रक्रिया का मुख्य संदर्भ यही है। इसमें अनुभव और अभिव्यक्ति (जो मूलत: अलग नहीं हैं) दोनों संरचनात्मक रूप में इसी प्रक्रिया के आधार पर संघटित होते हैं। एक प्रकार से कृतिकार के लिए यह गौण है कि समसामयिकता का स्वरूप किन बाह्य अथवा आंतरिक परिस्थितियों में संभव हुआ है। आज का लेखक युग के व्यक्ति और समाज के जीवन की उलझनों और जटिलताओं को उनकी भावात्मक प्रतिक्रियाओं

और परिस्थितियों में ग्रहण करने पर अपना कृतिकर्म नहीं मानता। वह पूर्णत: समसामयिक है, उसे अपने परिवेश की पहचान तथा जागरूकता ही नहीं होती, वरन उसका गहरा और समग्र बोध होता है। और यह वर्तमान समसामयिकता की गत्यात्मक प्रक्रिया का बोध आधुनिकता की पहली पहचान है। न केवल वह अपने युग की संपूर्ण सर्जनशीलता को इस स्तर पर ग्रहण करता है, बल्कि उससे अपनी रचनादृष्टि संघटित करता है।

आधुनिकता की चर्चा करते समय पश्चिम, जिसमें अमरीका को शामिल कर लिया जाता है, हमारे सामने प्रधान हो उठता है। इस संबंध में पश्चिम के विचारकों, लेखकों और कलाकारों ने अपने निजी संदर्भों में आधुनिकता की बहस को किस प्रकार चलाया है, उसे छोड़कर उनकी अर्थात समस्त पश्चिम की स्थिति को ध्यान में रखकर उनकी आधुनिकता के बारे में हमको विचार करना चाहिए। आधुनिकता यूरोप की समसामयिक स्थिति और परिस्थितियों का परिचय देने वाली दृष्टि मात्र नहीं है। इस भ्रम से हम अनेक बार यूरोप और अमरीका के रहन-सहन, रीति-रिवाजों, आचरण-व्यवहार को आधुनिकता की चर्चा में ले आते हैं। इससे जरा उठे तो वहां की परंपराओं, संस्थाओं, पद्धतियों के माध्यम से पश्चिम की आधुनिकता को परखने लगते हैं। वस्तुत: पश्चिम ने अपनी वर्तमान सर्जनशीलता को जिस आधुनिकता के रूप में गतिशील रखा है, वह समस्त सांस्कृतिक संदर्भों से संपृक्त और संबद्ध दृष्टि है। इसके अतिरिक्त वह मूलत: अपनी मूल्यचेतना को निरंतर विकसित, समृद्ध और गतिशील करने की चेष्टा है। यूरोप अर्थात पश्चिम की महायुद्धों की परिस्थिति और यांत्रिक अवशता में संक्रांतिकालीन गतिरोध और विघटन की स्थिति को आधुनिकता के रूप में विवेचित करना दृष्टिदोष है। इस स्थिति में यूरोप के चिंतकों और रचनाकारों ने विघटन, कुंठा, अनास्था, अनिश्चय, भय, आतंक, मृत्यु आदि की अनेक अस्तित्ववादी सघन तथा पीड़क मन:स्थितियों को झेला है। यह सारी समसामयिक स्थिति मात्र उनके लिए आधुनिकता का संदर्भ है, इस मंथन, उत्पीड़न, संघर्ष के बीच से अपनी संस्कृति को तमाम संक्रांति और गतिरोध की शक्तियों से उबारने में संलग्न उनकी सांस्कृतिक प्रक्रिया वस्तुत: आधुनिकता है।

इसी प्रकार पश्चिम की आधुनिक सांस्कृतिक चेष्टा में प्रतिफलित होने वाले मूल्यबोध को आधुनिकता के रूप में नहीं समझा जा सकता। ये मूल्य इस प्रक्रिया के माध्यम से उपलब्ध हुए हैं और इनका बोध भावात्मक प्रतिक्रिया के रूप में ही संभव है। अत: ये मूल्योपलब्धियां प्रक्रिया को विवेचित करने में सक्षम नहीं हो सकतीं। आधुनिक पश्चिम ने इतिहास की प्रक्रिया को समझने और व्याख्यायित करने की चेष्टा की है, समाजजीवन के संदर्भ में मानववादी दृष्टि का विकास किया है, तथ्यों और परिस्थितियों के बारे में वैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया है

और यथार्थ को अधिकाधिक ग्रहण करने का उपक्रम किया है। ये मूल्य आधुनिकता की ओर प्रवृत्त सांस्कृतिक चेष्टा की उपलब्धियां जरूर हैं, पर इनको तथा इनके आधार पर विकसित होने वाली पश्चिम की जीवनपद्धतियां, सामाजिक, आर्थिक तथा पारिवारिक ढांचों और आचरण-संहिताओं को आधुनिकता से अनिवार्य रूप से संबद्ध मानना भ्रामक है।

वस्तुतः मूल्योपलब्धि, मूल्य की निरूपित और व्याख्यायित स्थिति, स्थिर दृष्टि है, जबकि आधुनिकता सर्जनात्मक प्रक्रिया है। यह इस बात से भी सिद्ध होता है कि उन्नीसवीं शती से आज तक यूरोप में भी मूल्यदृष्टि में परिवर्तन घटित होते रहे हैं। उदाहरण के लिए उन्नीसवीं शताब्दी का इतिहासबोध बीसवीं शती में समसामयिकता से संबद्ध हो गया है। पहले इतिहास को अतीत की वस्तुपरक काल-खंड की इकाई से संबद्ध मानकर चला जाता था, इसी कारण इतिहास के विवेचन से प्राप्त निष्कर्षों और दृष्टियों के उपयोग की चर्चा की जाती रही है। इतिहास को जीवन की व्याख्या का एक समर्थ और सार्थक साधन मानकर चला गया है। सामाजिक तथा दार्शनिक चिंतन पर उसका प्रभाव रहा है। पर इतिहास को सम-सामयिकता से निरूपित मानकर आज समस्त अतीत और भविष्य को वर्तमान के बिंदु पर ग्रहण किया जा रहा है। अतः इतिहास की सारी प्रक्रिया को वर्तमान के इस क्षण बिंदु पर व्याख्यायित किया जाता है, और उसकी अपेक्षा क्षण का महत्व स्वीकारा गया है। पिछली शताब्दी से मानववाद के कई रूपों की व्याख्या हुई है, नैतिक मानववाद, विकासशील मानववाद, विज्ञानवादी मानववाद तथा समाज-वादी मानववाद आदि उसके अनेक रूप धार्मिक मानववाद के प्रतिपक्ष में सामने आए। पर इन समस्त मानववादों में काल्पनिक आदर्शवाद और भावात्मक आवेश था, इन्होंने एक स्तर पर यूरोप की सर्जनक्षमता को गति प्रदान की, पर एक सीमा के बाद उग्र राष्ट्रवाद में पर्यवसित होकर अथवा उसके आवेश के सामने ये दृष्टियां कुंठित और अवरुद्ध जान पड़ती हैं। फिर विज्ञान के नए चरण में इसके स्थान पर मानवतावादी यथार्थ दृष्टि का विकास संभव हो सका। भावुकता, भावावेश तथा कल्पनाविलास के स्थान पर इस दृष्टि में मानव की परिस्थिति को उसके सही परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करने की चेष्टा की गई।

मानववाद से संबद्ध दूसरी मूल्यदृष्टि व्यक्तिवाद की थी, उन्नीसवीं शती में व्यक्ति-स्वातंत्र्य की चर्चा खासी रही। इसमें भी उसी भावुकता और आवेश को देखा गया। अपने इस संदर्भ के कारण स्वतंत्रता की सारी बहस के बावजूद व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, सिद्धांत, यंत्र का बंदी होता गया और अपने को विवश तथा निरुपाय पाता गया है। अतः व्यक्ति के स्थान पर व्यक्तित्व की खोज पर बल दिया जाने लगा, और उसकी स्वाधीनता की आकांक्षा व्यक्त की गई। व्यक्तिवाद की अपेक्षा यह व्यक्तित्ववाद अस्तित्व की समस्या को आधुनिक संदर्भ में

असंपृक्त रूप से सर्जनात्मक स्तर पर स्वीकार करता है अंततः उन्नीसवीं शती के यांत्रिक विज्ञानवाद ने मनुष्य को स्वतंत्रता के अनेक स्वप्न दिखाकर क्रमशः एक प्रकार के नियतिवाद का बंदी बना दिया, पर बीसवीं शती के सर्जनात्मक वैज्ञानिकतावाद ने मावनभविष्य की नई संभावनाओं को उद्घाटित किया है और इस प्रकार उसे अधिक आश्वस्त किया है। मूल्यों की इस प्रक्रिया से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि पश्चिम की आधुनिकता को किसी या किन्हीं मूल्यों के आधार पर विवेचित या व्याख्यायित नहीं किया जा सकता।

अतः हमारी आधुनिकता को दिशा, संकेत, प्रेरणा या प्रभाव आदि जो भी पश्चिम से प्राप्त हुए हों, पर यदि हमको उसे अपनी निजी गत्यात्मक सर्जनशीलता के रूप में ग्रहण करना है, तो उसे अपनी समसामयिकता के संदर्भ में और बोध से विकसित करना होगा। इसी आधार पर उसका सक्रिय होना संभव है। इस प्रसंग में हमारा सामयिक परिवेश हमारे लिए महत्वपूर्ण हो जाता है। यहां परिवेश समसामयिकता के बोध से संबद्ध होकर सर्जनप्रक्रिया के स्वरूप को भी प्रभावित और एक हद तक प्रेरित करने लगता है। आज की समसामयिकता के कुछ तत्वों को रखा जा सकता है। पहली बात है कि अब यथार्थ के सही बोध के लिए भावात्मक प्रक्रिया के स्थान पर बौद्धिक चेष्टा अपेक्षित है। आज सामूहिकता और यांत्रिकता का दबाव हम पर भी बढ़ता जा रहा है, जबकि हम अभी तक सामाजिक स्तर पर आज के वैज्ञानिक तथा तकनीकी युग में संगठित भी नहीं हो सके हैं। एक प्रकार से हम दुहरे दबाव में हैं और दुहरे प्रतिरोध का सामना हमें करना पड़ रहा है। ऐसी स्थिति में संपृक्त व्यक्तित्व की खोज आवश्यक हो उठी है और उसकी नियति, उसके स्वरूप और भविष्य की भी समस्या है।

हम विज्ञान और प्रविधि के विकास की उस सीमा पर पहुंच चुके हैं, जहां मानवीय संचरण की संभावनाओं पर अकस्मात कुछ कह सकना संभव नहीं रह गया है। ज्ञान-विज्ञान देश-काल की दूरी को समाप्त करते जा रहे हैं, साथ ही इससे भी महत्व की बात है कि वे अपने लिए संचरण का भिन्न आयाम निरूपित कर चुके हैं, जो मानव की अनंत संभावनाओं को उद्घाटित कर सकेगा। इसी तरह निजी व्यक्तित्व की खोज का प्रश्न भी है, वस्तुतः यह व्यक्तित्व देश, समाज, राष्ट्र की सर्जनात्मक चेतना से संपृक्त है और साथ ही मानव इतिहास की देशकालगत चेतना से एक बिंदु पर जुड़ा हुआ है। आधुनिक अर्थ में व्यक्तित्व की खोज व्यक्ति को इतिहास, परिवेश, समाज, संस्थाओं तथा सिद्धांतों से मुक्त कर सर्जनात्मक स्तर पर गतिशील करना है। वस्तुतः यह मुक्त करना इसी अर्थ में समझा जा सकता है कि परंपरा और परिवेश से व्यक्ति का व्यक्तित्व जितने गहरे स्तर पर जुड़ा है, उसको सर्जनात्मक स्तर पर गतिशील होने के लिए उतनी ही तीव्र प्रतिक्रिया की अपेक्षा है। इतिहास की चेतना अपने सामयिक परिवेश में एक

स्पष्ट रूप ग्रहण करती है, कर सकती है, पर रचना का स्तर खोजने के लिए व्यक्ति को इस निश्चित रूप को तोड़कर मुक्त होना पड़ेगा।

हमारी समसामयिकता के अंतर्गत मूल्यों के विघटन, आस्था के ह्रास, मानसिक कुंठा और मानवभविष्य के अनिश्चय का सवाल भी उठता है। जैसा कहा गया है कि पश्चिम की सामयिक परिस्थिति के रूप में इनको आधुनिकता के लक्षण मान लेने की गलती की जाती है। परंतु जिस प्रकार यूरोप की सर्जनात्मक क्षमता के लिए यह चुनौती रही कि वह अपनी सांस्कृतिक प्रक्रिया को इनके बीच से आगे बढ़ाए, वैसे ही यदि ये सब हमारी समसामयिकता के लक्षण हैं तो हमको अपनी सर्जनात्मक क्षमता को इनके बीच ही सक्रिय करना होगा। व्यापक मानवीय संकल्प इस क्षमता के माध्यम से व्यक्त होगा और हम जिस सीमा तक मानव-व्यक्तित्व को सर्जनात्मक स्तर पर गतिशील करने में सफल होंगे, उसी सीमा तक हमारा भविष्य दिशा और दृष्टि पा सकेगा। यह तभी संभव है, जब हम आधुनिक हों और अपनी सर्जनशीलता को आधुनिकता के रूप में ग्रहण कर सकें।

ऊपर की सारी चर्चा समसामयिकता के बारे में की गई है। इस विवेचन और विश्लेषण के माध्यम से हम समसामयिकता का निरूपण कर सके हैं, जो मात्र आधुनिकता की परिस्थिति की व्याख्या है। किसी भी प्रक्रिया को पकड़ा नहीं जा सकता है, क्योंकि वह गति है और गति रुक कर गति नहीं रह सकती। इसलिए सर्जन की प्रक्रिया को भी विवेचन तथा विश्लेषण के द्वारा पूरी तरह समझा नहीं जा सकता। अतः आधुनिकता की व्याख्या नहीं की जा सकती। जब जब हम उसको व्याख्यायित करने की चेष्टा करते हैं, रचनादृष्टि के रूप में आधुनिकता की परिस्थिति का विवेचन करने लगते हैं। परिलक्षित और व्यक्त होने वाले मूल्यों की चर्चा करते समय हम मूल्यों को स्थिर करने लगते हैं, जबकि वह मूल्यों के स्तर पर उनकी मात्र सर्जनशीलता है। आधुनिक दृष्टि को समझने के लिए मूल्यों को पुराने और नए कहने के बजाय सर्जनात्मक और असर्जनात्मक कहना अधिक सही है। यद्यपि इस आधुनिक सर्जनदृष्टि को मूल्यनिरपेक्ष कहा गया है, क्योंकि हमारी मूल्यदृष्टि निरूपित और प्रतिपादित को ग्रहण करने की रहती है।

आधुनिकता की परिस्थिति और उसके संदर्भ को स्पष्ट करने की दृष्टि से ही हिंदी में इसके बारे में चलने वाली बहस में उभरने वाले कुछ महत्वपूर्ण तत्वों को यहां उनके सही परिप्रेक्ष्य में स्वीकार किया जा सकता है। यथार्थ के आग्रह की चर्चा प्रायः की गई है। वस्तुतः यहां यथार्थ की अपेक्षा यथार्थ के बोध पर बल है, जैसा पहले संकेत किया गया है, आज यथार्थ संबंधी वस्तु तथा स्थितियों के भावात्मक अनुभव को रचने में हम प्रवृत्त नहीं हैं, वरन हमारी यथार्थदृष्टि वस्तुओं और स्थितियों, मौलिक संबंधों और उनमें निहित व्यंजनाओं के आधार पर रचना-कर्म में संलग्न है। इसी प्रकार वर्तमान और क्षण के महत्व की बात भी है।

इतिहास अर्थात हमारा सारा अतीत और भविष्य में उसका प्रक्षेप सारी वस्तु-स्थितियों के प्रति हमारी भावात्मक प्रतिक्रिया हैं। अतः यदि हम वस्तु और स्थिति को उसके सही रूप में ग्रहण करना चाहते हैं, तो हमको वर्तमान क्षण पर ठहरना होगा। जैसा कहा गया, उनकी 'निजता' अर्थात उनका 'पन' क्षण के निर्भर अनुभव में व्यंजित हो सकेंगे। अनुभव के इस नए आयाम की खोज वस्तुओं और स्थितियों के क्षण पर संतुलित संबंधों और अंतरावलंबनों पर आधारित है।

साथ ही अनुभव की विशिष्टता की बात उठाई जाती है और कहा जाता है कि लेखन में व्यक्तित्व, सर्जनात्मक व्यक्तित्व की अद्वितीयता का महत्व है। निश्चय ही यह आधुनिकता का गहरा संदर्भ है, क्योंकि अनुभव में आयामात्मक अंतर घटित हुआ है, और अब तक रचनात्मक अनुभव में साधारणीकृत होने की भावात्मक स्तर पर जो संभावना मानी जाती रही है, उसे इस स्तर पर स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस आयाम पर अनुभव का साधारणीकरण संभव नहीं है, क्योंकि यहां अनुभव भावों के प्रकार में नहीं बंध या बंट सकता। भावों के अनुभव को वर्गों में बांटना आसान है। यह बात समझाना आसान है कि अमुक वस्तु को देख कर मुझे दुख हुआ, पर यह समझाना मुश्किल है कि वस्तु का निजी स्वरूप क्या है। प्रत्येक का दुख समान नहीं होता, प्रत्येक व्यक्ति का और उसकी भी प्रत्येक स्थिति का प्रेम समान नहीं होगा, अतः इन सबका अनुभव सर्जनात्मक स्तर पर भिन्न माना जाएगा, पर इनकी समस्त विशिष्टता स्थायीभावों के वर्गों से निर्धारित और निरूपित होने लगेगी। पर वस्तुओं की प्रत्येक स्थिति और उनका हर अंतर्वर्ती संबंध और अवलंबन अनुभव का नया तथा भिन्न स्वरूप ग्रहण करता है। वह स्पष्ट अथवा व्यंजित न हो सके ऐसा संभव है, पर उसे किसी अनुभव के खाने में बैठाया नहीं जा सकता है। इसीलिए भावात्मक अनुभव की अभिव्यक्ति आसान है और उसका संप्रेषण साधारणीकृत हो जाता है, कम से कम सामाजिक में इसी स्तर पर उसे ग्रहण कर लेने की प्रवृत्ति होती है। इसी कारण जटिल से जटिल अनुभव को प्रायः अति सरल बना लिया जाता है। यह रचना के स्तर पर होता है और आस्वाद के स्तर पर भी। अभी तक भावात्मक अनुभव की विशिष्टता को व्यक्त करने की अनेक प्रकार से चेष्टा की गई है, अनेक प्रयोग होते आए हैं। काव्य और कला के अनेक आंदोलन इस दृष्टि से सामने आए हैं। परंतु इस प्रकार के प्रयोगों में भावात्मक अनुभव को उसके वैशिष्ट्य में ग्रहण करने की चेष्टा की गई हो या भावात्मकता से बचने के लिए अनुभव को अद्वितीयता में व्यंजित करने की दृष्टि से मात्र रचनाशिल्प पर बल दिया गया हो, पर अंततः इस अनुभवप्रकार की अभिव्यक्ति भावात्मक सीमा में बंध जाती है, जैसा कहा जा चुका है, अंतर आयामात्मक नहीं हो पाता है। अतः आज की अनुभव की विशिष्टता का सही संदर्भ वस्तुओं और स्थितियों की निजी सर्जनशीलता है, और अनुभव के विशिष्ट को

जिस स्तर पर व्यक्तित्व रच पाने में सक्षम हो पाता है, वही उसकी अद्वितीयता मानी जाएगी।

शुरू में सामयिक और युगीन होने की बात उठाई जा चुकी है। किसी भी युग का साहित्य समसामयिक परिवेश की किसी न किसी प्रकार की प्रतिक्रिया से संबंध रखता है। यह सामान्य जीवन और उसकी विविधता-जटिलता से हो सकता है, साथ ही मूल्यों के स्तर पर भी हो सकता है। परंतु गहरी से गहरी और व्यापक से व्यापक प्रतिक्रिया अपने सघन तथा सूक्ष्म रूप में भी भावात्मक होती है, रही है। यह जरूर है कि क्लासिकी कवियों ने (लेखकों ने) अपनी युगीन भावशीलता को भी अधिक वस्तुपरक रचनाविधान में व्यंजित किया है, जिससे रचनात्मक अनुभव व्यक्तिगत सामान्यीकरण से बच जाता है और अधिक व्यापक संरचनात्मक रूपविधान ग्रहण करता है। परंतु आज की स्थिति में समसामयिकता भावात्मक प्रतिक्रियाओं की प्रतीति के बजाय समग्र की प्रतीति है, अर्थात व्यापक और संपूर्ण युगजीवन और परिस्थितियों से संपृक्त रह कर अपनी संसक्ति की अनुभूति है। यह संसक्ति वस्तु अथवा स्थिति के प्रति भावात्मक लगाव नहीं है और न भावात्मक प्रकार की प्रतिबद्धता ही। यह वस्तुओं को भावात्मक संदर्भों से अलग कर शुद्ध 'पन' और 'निजता' में उनको पाने का लगाव है और रचना के स्तर पर शुद्ध उनके सर्जन के प्रति समर्पित होने की बात है। इस संदर्भ के बिना व्यक्तित्व, वर्तमान क्षण, सर्जन आदि का कोई आधुनिक अर्थ नहीं है। यह अलग बात है कि अपनी सर्जनशीलता में आधुनिकता भी अनुभव की समग्रता, पूर्णता और समृद्धि की ओर अग्रसर है।

अंत में कहा जा सकता है कि आधुनिक सर्जनशीलता अपने पूरे सामाजिक परिवेश, युगजीवन से संपृक्त है। वह गांव-शहर, व्यक्ति-समाज, परिवार-संस्था, बाहर-भीतर, व्यापक-सूक्ष्म, सघनता-बिखराव के अलगाव को स्वीकार नहीं करती, अतः इन विभिन्न स्थितियों का अंतर उसके लिए अप्रासंगिक है। इनके बारे में हमारे दृष्टिकोण का बदलाव तो आज के वैज्ञानिक युग की परिस्थिति है, पर यह आधुनिकता का संदर्भ मात्र है। इसी प्रकार वह युग की मूल्यस्थितियों से भी संपृक्त मानी जा सकती है। पर उसकी संसक्ति इन परंपरित मूल्यों, प्रतिष्ठित मूल्यों, उभरने और रचे जाने वाले मूल्यों से इसी स्तर पर मानी जा सकती है, जहां वह उनका उपयोग करके अपनी रचनात्मक प्रक्रिया की गति ग्रहण करती है।

दूसरी ओर अपनी सर्जनगति के प्रवाह में वह सारे सामयिक जीवन, उसकी व्यापक परिस्थितियों और जटिल भावात्मक प्रतिक्रियाओं से असंपृक्त भी हो जाती है। इसी स्तर पर वह समस्त मूल्यसंदर्भों के प्रति निरपेक्ष हो जाती है। वह शुद्ध रचनात्मक अनुभव अथवा अनुभव की रचनात्मकता की खोज कही जा सकती है। इसी कारण आधुनिक रचनादृष्टि को नैतिकताविहीन, मूल्यविहीन और अर्थ-

विहीन कहा जाता है। ऐसा नहीं कि इसका कोई संबंध अनैतिकता, अवमूल्यन तथा निरर्थकता से है ही नहीं, पर यह संबंध नैतिकता, मूल्य और अर्थ के संबंध के समान संदर्भ का है, रचना का नहीं। आधुनिकता का उद्देश्य रचनात्मक प्रक्रिया की निरंतरता को बनाए रखने के अलावा और कुछ नहीं हो सकता है, पर यह प्रक्रिया संपन्नतर, पूर्णतर और जटिलतर व्यक्तित्व की खोज में प्रवृत्त है। और इस प्रकार रचनात्मक अनुभवों के माध्यम से संपन्नतर और पूर्णतर जीवन की ओर अग्रसर हुआ जा सकेगा। आज उस सीमा पर मानवविकास पहुंच चुका है, जहां भावात्मक अनुभव की समस्त रचनाक्षमता सीमित और बाधित हो गई है। यहां तक कि इस प्रकार के अनुभव को बौद्धिक तटस्थता के साथ जिस सीमा तक रचनात्मक रूप दिया जा सकता है, उसकी संभावना भी समाप्तप्राय जान पड़ती है। अब रचना के क्षेत्र में अनुभव के इस नए आयाम की खोज उसे आगे बढ़ाने के लिए ही अनिवार्य हो गई है।

भाषा के प्रश्न को अंत में एक बार पुनः उठाना आवश्यक जान पड़ता है। आसानी के लिए भले ही यह कहा जाए कि अनुभव के इस विशिष्ट प्रकार के अनुकूल भाषा की खोज जरूरी है। परंतु इस कथन में यदि एक तरह की आसानी है, तो यह कहना कि एक विशिष्ट प्रकार की भाषा के संरचनात्मक ढांचे के आधार पर इस अनुभवप्रकार को रूपायित किया जा सकेगा, दूसरी प्रकार की आसानी पैदा करता है। पहले कथन में जान पड़ता है कि इस अनुभव में प्रकार का अंतर घटित हो चुका है और उसके अनुकूल भाषिक ढांचा पाना है, अर्थात वस्तुओं और स्थितियों के इस अनुभव के अनुकूल शब्दों का चुनाव और प्रयोग करना है। दूसरी ओर ऐसा जान पड़ता है कि हमारे पास एक भाषिक ढांचा है अर्थात कुछ सही शब्द और उनके संबंध का बोध है, और उनके द्वारा हम इस रचनात्मक अनुभव-प्रकार को रूपविधान प्रदान करते हैं। परंतु कहने की आसानी के अलावा ये दोनों कथन सही नहीं हैं, समझने की थोड़ी सहूलियत इस प्रकार हो सकती है। परंतु सही स्थिति के बारे में गलतफहमी भी हो सकती है।

किसी भी स्तर या कोटि का अनुभव भाषिक होता है या कह सकते हैं कि बिना भाषिक संरचना के कोई अनुभव व्यक्त हो नहीं सकता। अतः जब हम सर्जनात्मक अनुभव के इस भिन्न प्रकार की बात करते हैं, उस समय हमारा मतलब भाषिक रचना के भिन्न प्रकार से भी होता है। काव्य (साहित्य मात्र) की बिंबयोजना के पिछले सभी प्रकार अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों से इस प्रकार जुड़ चुके हैं कि उनके द्वारा निश्चित भावाभिव्यक्तियां ही हो पाती हैं। उनमें रूपकों, उपमानों, प्रतीकों, लक्ष्यार्थों, व्यंग्यार्थों आदि के द्वारा जो बिंबविधान किया जाता है, वह परंपरित भावात्मक अनुभव के स्तरों, क्षेत्रों, जटिलताओं, विविधताओं, प्रभावों और सघनताओं को ही व्यक्त या व्यंजित कर पाता है। यह जरूर है कि इनके

द्वारा भी बहुत अधिक विविधता पैदा की जा सकी है। इधर की कविता में इस प्रकार के बिंबविधान में दूसरे प्रयोग किए गए हैं। खंडित बिंबों, विपरीत बिंबों, असंगत और विसंगत बिंबों का प्रयोग किया गया है। फिर उन पर दूसरों को आरोपित और प्रक्षेपित किया गया। कभी इस प्रकार के विसंगत बिंबों के पूरे हुजूम से अनुभवपरक आज के जीवन की अनुभूति को व्यंजित किया गया। पर ये सारे प्रयोग अंततः रचना के स्तर पर भावात्मक अनुभव के विविध प्रकारों से हमको अलग नहीं कर पाते। इसीलिए आज रचना की भाषा को पिछली समस्त बिंब-योजना से अपने को मुक्त तथा अलग करके कृतिकर्म में प्रवृत्त होना है। अनुभव के साथ भाषा को उसके शुद्ध वस्तुपरक अर्थात वर्णनात्मक रूप में रचनात्मक होना है। अतः यहां अनुभव और भाषा, दोनों स्तरों को एक साथ लेकर चलना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि दोनों एक ही प्रक्रिया के पक्ष हैं।

आधुनिकता : एक बहस

यह नगर साहित्यिक बहसों में पड़ने के लिए नेकनाम और बदनाम दोनों ही है। अपना नगर इसलिए नहीं कह रहा हूं कि अच्छाई या बुराई का श्रेय लेने का हकदार नहीं हूं, वैसे इसी नगर के एक साहित्यिक मित्र की सलाह है कि श्रेय को श्रेय के रूप में लेना चाहिए, दुनिया की याददाश्त ऐसी अच्छी नहीं होती कि सब कुछ गांठ बांधकर चले, वह तो कानों में पड़े हुए नाम को महत्व देती है। बहस में एक सरगर्मी होती है और नगर में रहने वाला व्यक्ति उसकी ताजगी का अनुभव करेगा ही। इधर मेरे साहित्येतर मित्र एक दिन कहने लगे कि साहित्य के क्षेत्र में यह सन्नाटा कैसा है ? कहीं कुछ साहित्यिक बहस ही नहीं चल रही है। खैर मेरे दूसरे मित्र ने उनकी भूल का सुधार स्वयं ही कर दिया कि आप स्वयं बेखबर रहते हैं, अभी कुछ दिन पहले लघुमानव और सहजमानव के बीच अच्छे दांवपेंच हुए हैं, कुछ लोग यह तक कहते घूम रहे थे कि दोनों को महामानव की छिपी सपोर्ट थी। पहले मित्र ने ऐसा अच्छा मौका खो देने का दुख प्रकट किया, इस पर दूसरे मित्र भी उदास हो गए और कहने लगे—भई, बात एक हद तक तुम्हारी भी ठीक है। जमाना ऐसा खराब आ गया है कि अपने इसी शहर में जहां पहले साहित्य के क्षेत्र में सिंह दहाड़ते थे, वहां अब सियार राग अलापते नजर आते हैं। मैंने देखा कि इन साहित्येतर मित्रों के संसर्ग दोष से मैं भी कहीं मारा न जाऊं, इसलिए उनकी बातों को दरगुजर कर गया। इनकी बात और है, कमलाकांत की तरह (आपकी पत्रिका के कालम के एक व्यक्तित्व) वह मुक्त होकर टीका-टिप्पणी कर सकते हैं, उनका कोई बुरा नहीं मानेगा, पर मुझे तो साहित्यकारों के बीच ही रहना है।

हमारे इस नगर में इधर आधुनिकता की बहस चल रही है। या यों भी कहा जा सकता है कि एक परिगोष्ठी के आयोजन के द्वारा इसको धूमधाम से प्रारंभ किया गया है। कुछ मनचले अगंभीर मित्रों ने इसे बहस का समापन समारोह माना है, पर मैं उनसे उसी प्रकार सहमत नहीं हूं, जिस प्रकार इस बहस के परिगोष्ठी रूप में आयोजित करने के पक्ष में नहीं था। वैसे मैं आयोजकों की इस घोषणा के साथ हूं कि इस प्रकार हमने आज की प्रमुख समस्या की (चिंतन के क्षेत्र में) बहस का प्रारंभ भर किया है जिससे इस दिशा में सोचने-समझने का क्रम आगे बढ़ सके। जहां तक इस बहस में मेरे योग का सवाल है, मैं स्पष्ट हूं कि मैं सुनने, सोचने और समझने की स्थिति से इस विषय में आगे नहीं बढ़ पाया हूं। इसके बारे में मेरे दिमाग में ऐसी स्पष्टता नहीं कि मैं इस बहस में कुछ योग दे सकूं। अभी तक मैं इसी ऊहापोह में हूं इस आधुनिकता के भावबोध को युग की सर्जनात्मक संसक्ति मान लेने पर, इसकी बहस आगे किस प्रकार बढ़ाई जाए !

खैर, अच्छा यह है कि संसार में और इस नगर में भी मेरे जैसे उलझे हुए लोग ही नहीं हैं। लोगों के दिमाग खुले हुए हैं, उनके विचार स्पष्ट हैं और मौका पड़ने पर किसी भी विषय का विवेचन साफ-सुथरे ढंग से कर सकते हैं। वस्तुतः उनमें व्यक्तित्व की ऐसी गंभीरता और गरिमा होती है कि वे व्यापक मानवतावाद और इतिहास तथा परंपरा के विराटत्व के आधार पर सब कुछ की व्याख्या करने में सहज ही समर्थ सिद्ध होते हैं। ऐसे व्यक्तित्वों के सहारे अर्थात बलबूते पर किसी गंभीर गोष्ठी का आयोजन संभव हो पाता है। प्रस्तुत गोष्ठी के आयोजकों को भी मूलतः ऐसे ही महाजनों का सहारा था। विशेषकर आज की स्थिति में और इस विषय के संबंध में जब साहित्येतर भावभूमि पर संघटित दलों में तना-तनी का कोई अवसर नहीं था, जैसा पिछले 'व्यक्ति स्वातंत्र्य' और 'साहित्य और राज्य' जैसी परिगोष्ठियों में सहज संभव हो गया था। वैसे भी इन दलों की अब चर्चा ही अधिक की जाती है।

समारोह की दृष्टि से यह परिगोष्ठी हलकी गई, हमारे साहित्येतर मित्रों को (असाहित्यिक कहने में उन्हें आपत्ति है) इंप्रेस (प्रभावित) नहीं कर सकी; फूलमालाओं की कमी और मंगल-कलश तथा वंदनवार का अभाव शायद इसका कारण हो। बहुत से नगर के स्थानीय साहित्यिकों की अनुपस्थिति का अनुभव भी किया गया। मित्रों ने कारणों की विवेचना भी की, इस बार आयोजकों ने विशेष ध्यान नहीं दिया, उन्होंने अपने अंगरेजों की परंपरा की मर्यादा नहीं निभाई; और यह विषय भी रखा गया है जिसको समझना पूरी कलाबाजी है, आजकल हमारे नगर में बहुत से साहित्यकार समझदार हो गए हैं या बाहर से आ गए हैं, वे साहित्य साधना करते हैं, चक्करों में नहीं पड़ते अर्थात अपनी पूंजी को व्यर्थ खर्च करने में विश्वास नहीं करते। यह अलग बात है कि कुछ लोगों को उनकी पूंजी के बारे में ही संदेह है, पर यहां ऐसे साहित्य को न समझ पाने वाले लोगों अरसिकों की चर्चा व्यर्थ है।

जो भी हो, परिगोष्ठी हुई और उसमें पुरानी, नई और बीच की—सभी पीढ़ियों का प्रतिनिधित्व रहा। काफी गहन, गुरु और गंभीर चर्चाएं हुईं। परंतु मेरी एक कठिनाई है, प्रश्नों या समस्याओं के बारे में जहां अत्यंत गंभीरता से विचार किया जाने लगता है, मेरी बुद्धि (जो भी है) विभ्रम में पड़ जाती है। परंतु साहित्य के विद्वान प्राध्यापक या भारी-भरकम पंडित विषय की विशाल तथा गरिमामंडित चर्चा ही करेंगे। यह उनकी शालीनता और आभिजात्य है कि वे शुरू करते समय अपने को अल्पज्ञ और अयोग्य स्वीकार कर लेते हैं, वस्तुतः उनकी शैली में यह उनकी विद्वता का ही अंग है। विक्टोरियन युग के इस वैभव और प्रदर्शन के सामने श्रोता अभिभूत पहले ही हो जाएंगे। इसके बाद प्रोफेसर महोदय आधुनिकता के बारे में न जानने से प्रारंभ करके जो भी कुछ कहे दूसरों के लिए प्रामाणिक होगा।

अभिभूत शिष्यवर्ग 'जी गुरु जी महाराज' की मुद्रा में ग्रहण करने के लिए विवश हो जाएगा।

अब उन्होंने कहना शुरू किया कि आधुनिकता को लेकर लोगों ने (यूरोप के) पहले से काफी भ्रम और उलझनें पैदा की हैं और इस प्रकार हम (भारतीय अपनी कम समझ से) उसे अधिक ही बढ़ाएंगे। इस विषय में हम शब्द को बिना समझे बहस करते हैं, काल की सापेक्षता के बिना आधुनिक का क्या अर्थ हो सकता है। इसके बाद उन्होंने यूरोप के और मुख्यत: अंगरेजी साहित्य के, रेनेसां से लेकर आज तक के, न जाने कितने लेखकों का हवाला दे डाला, जो उनके लिए हस्तामलक है। इस भाषण की गरिमा से अभिभूत होना आसान है, पर मेरे जैसे आदमी के लिए कुछ ग्रहण कर पाना सरल नहीं। मैंने तो यही समझा इस विषय में कम जानने वाला यदि भ्रम में है तो उसका भ्रम उसी अनुपात में कम है। अत्यधिक जानने वाला परंपरा और इतिहास के बीच से देखने के प्रयत्न में उलझता ही चला जाता है। यह अलग बात है कि वह ज्ञान के विस्तृत और महान आधार पर प्रतिष्ठित होने के विश्वास के कारण अपनी उलझन को भी सैद्धांतिक गरिमा प्रदान कर दूसरे लोगों को चिंतन की भूलभुलैया में भटकने के लिए बाध्य कर देता है। फिर इस प्रकार विचारों के मायाजाल का जश्न मनाने वाले लोग परंपरा और इतिहास से विद्रोह करने वालों को स्वयंसिद्ध रूप से अनजान स्वीकार कर उनकी मान्यताओं को खारिज कर देते हैं। ऐसे समझदारों को यह कौन बताए कि विद्रोह करना या किसी वस्तु को अस्वीकार करना तभी संभव या महत्वपूर्ण हो सकता है, जब उसका पूरा ज्ञान या अनुभव हो। पर वे ज्ञान और प्रदर्शन में अंतर करके चलते कहां हैं ?

प्रतिष्ठित विद्वान और प्रतिष्ठाकांक्षी विद्वानों में केवल परंपरा का ही अंतर माना जा सकता है, क्रम में रखकर देखने पर दोनों में तात्विक समता ही आभासित होगी। ऐसे विचार करने वाले किसी स्पेन के समाजशास्त्री का ('दि रिवोल्ट आफ मासेज' के लेखक) का हवाला देकर यह सिद्ध कर सकते हैं कि यूरोप की आधुनिक विचारधारा में विशिष्ट जनों का यह क्षोभ व्यंजित है कि उनकी सांस्कृतिक उपलब्धियों का बिना श्रम का भोग करने वाला जनसमूह उनकी सांस्कृतिक चेष्टा को गंवारू कह रहा है। यूरोप की इस व्यक्तिनिष्ठ और विशिष्टतावादी विचारधारा को हमें सतर्क होकर ही ग्रहण करना चाहिए। हमारे यहां का ब्राह्मणवाद स्वयं इसी प्रकार की भावना पर प्रतिष्ठित रहा है और अभी हम उससे मुक्त भी नहीं हो पाए हैं, इसमें संदेह है। इस प्रकार की पद्धति से सिद्धांत प्रतिपादित करने के रोचक करिश्मे दिखाए जा सकते हैं, पर इससे अपने युग के सर्जनात्मक भावबोध पर विचार करने में मेरे जैसे व्यक्ति के लिए उलझनें बढ़ती ही हैं।

दूसरे महानुभाव ऐसे भी हो सकते हैं जो आधुनिकता का उद्धार करने के लिए कृतसंकल्प हैं। बेचारी आधुनिकता की दुष्ट और संकुचित दृष्टि वाले दानवों से रक्षा करनी ही होगी ! इसका एकमात्र उपाय है कि उसे स्वयं महान और गौरवशाली सिद्ध कर दिया जाए। और यह तो बहुत आसान है, श्रेष्ठ तथा उदात्त परंपराओं से इसका गठबंधन कर दिया जाए, फिर इस पर कौन आंख उठा सकता है ? संसार की सभी महान परंपराओं को उन्होंने मानवतावादी स्वीकार किया, और उनसे ऐतिहासिक संबंध स्थापित करते हुए आधुनिकता को भी मानवतावादी ही सिद्ध कर दिया। फिर सब कुछ साफ-सुथरा हो जाता है, सब कुछ महान मानवता है, मानवता से आधुनिकता संबद्ध है, अतः वह भी महान और स्पृहणीय है। इससे भिन्न जो भी है वह आधुनिकता के नाम पर धोखाधड़ी है। मेरे पास बैठ एक फादर महोदय जो हिंदी कम जानते हैं, पूछते रहे वक्ता किस मानवतावाद का जिक्र कर रहे हैं। मैं उनसे खीझ रहा था कि ये महोदय हैं कि मानवता में पुनः भेदविभेद करने पर उतारू हैं, अपने यहां भी कहा गया है : मनुष्य सबसे ऊपर है। मैं अभिभूत रह गया। और उस गरिमापूर्ण अवसर पर करता भी क्या ?

एक दार्शनिक मित्र भी हमारे मेहमान के रूप में उपस्थित थे। जब हम उनकी ओर इस आशा से देख रहे थे कि वह इस विषय पर बहस कुछ आगे बढ़ा सकेंगे, पहले उन्होंने हमको आश्चर्य में डालते हुए यह बताया कि आधुनिकता की व्याख्या इस रूप में करने की अपेक्षा कि वह क्या है, इस रूप में करना अधिक उचित है कि वह क्या नहीं है ? खैर कोई बात नहीं बहस ऐसे भी बढ़ाई जा सकती है, पर उन्होंने यहां से जो मोड़ लिया तो सभी उपस्थित सज्जन हक्के-बक्के रह गए। उनकी बात से यह तो लगा ही कि आधुनिकता में यदि कुछ महान नहीं है तो वह मात्र नारा है, पर उन्होंने इस बहाने अच्छा-खासा उपदेश दे डाला और आत्मालोचन की महती आवश्यकता की ओर सभी का ध्यान आकर्षित किया। उनका कहना था कि हिंदी में यूरोप के समान बड़े लेखक क्यों नहीं होते या महत्वपूर्ण रचनाएं क्यों नहीं लिखी जातीं ? और उनकी ध्वनि थी कि आप लोग यदि व्यर्थ की बहस में न फंस कर गंभीर अध्ययन और चिंतन में लगें, तो ऐसी स्थिति क्यों हो ? उनको कैसे समझाया जाता कि वहां एकत्र सभी लोग, संख्या में भले ही कम हों, गंभीरता और महानता में उनसे कम विश्वास नहीं रखते हैं, पर यदि ये उत्कृष्ट और सार्थक नहीं लिख पाते तो आप भी कहां लिख पाते हैं (उन्होंने यह स्वयं ही माना था) ? और फिर हिंदी ही क्यों, किसी भारतीय भाषा में तथा किसी भी विषय पर भारतीय लेखक द्वारा लिखे गए साहित्य (व्यापक अर्थ में) वैसा कितना ऊंचा और महान लिखा गया है ? इस प्रश्न पर बहस करने और इसके कारणों पर विचार करने के लिए तो स्वतंत्र परिगोष्ठी की जा सकती है,

पर कठिनाई यह है कि क्या भरोसा है कि उस परिगोष्ठी को ही हमारे मित्र महोदय गंभीर और महत्वपूर्ण मानेंगे।

आधुनिकता के संदर्भ में मूल्यों पर और तत्संबंधी समस्याओं पर कई निबंधों में और कई वक्ताओं द्वारा विचार किया गया। इस चर्चा में प्रायः आधुनिक और आधुनिकता में भेद रखकर चल पाना कठिन हो जाता है और बहस महायुद्धों के बीच मूल्यों की संक्रांति और विघटन की चक्करदार गलियों में भटक जाती है। यदि इससे रास्ता निकालकर मूल्यों के आधार पर आधुनिक भावबोध की समस्या तक पहुंचा भी जा सका, तो उसे सर्जनात्मक प्रक्रिया के रूप में ग्रहण न कर उपलब्धि के रूप में विवेचित किया गया जिससे उसकी ऐतिहासिक तथा परंपरागत संगति और विसंगति की ओर विशेष ध्यान आकृष्ट हो जाना आसान था।

ऐसा नहीं कि यह आधुनिकता की बहस जमी नहीं और इससे आगे बढ़ने की संभावनाएं उद्घाटित नहीं हुईं। परंतु चिंतन के क्षेत्र में जिन सीमाओं और अवशताओं के कारण गतिरोध का अनुभव अन्यत्र होता रहता है, इस परिगोष्ठी में इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता था। हम जिस प्रकार पूर्वनिश्चित और स्वयंसिद्ध ढंग से बहुत सी स्थापनाओं को स्वीकार कर व्यापक सत्यों और मूल्यों को प्रतिपादित करने के अभ्यस्त हो गए हैं, तथा परंपरा और महानता के नाम पर सीमित तथा विशिष्ट की उपेक्षा सहज ही करने में समर्थ हो जाते हैं, इसको यहां स्पष्टतः देखा जा सकता था।

मैं सोचता हूं कि सूक्ष्म और गहनतम स्तर पर इस आधुनिकता के भावबोध को विश्लेषित या अनुभूत करने के लिए, हम उसे ऐतिहासिक परंपरा से असंबद्ध करके क्यों नहीं रख सकते? यह कहना कि क्या आधुनिक बिना अतीत के इतिहासक्रम के संभव माना जा सकता है, बच्चों जैसी बात है, कही गई चाहे जितने बड़े विद्वान के द्वारा हो। गणित की गहन समस्याओं को हल करते समय संख्याओं के महत्व का सवाल उठाने जैसा ही निरर्थक। सवाल यह नहीं है कि हमारे पीछे इतिहास का क्या क्रम रहा है, वरन यह है कि आज हमारी विशिष्टता क्या है? अनुभव की यह विशिष्टता अपने आप में अप्रतिम और अद्वितीय है, श्रृंखलाक्रम के आगे की स्थिति में अवस्थित होने पर भी इसी कारण उसे ऐतिहासिक पद्धति से न पूर्णतः विवेचित किया जा सकता है और न उसकी प्रक्रिया के बारे में किसी प्रकार की निश्चित भविष्यवाणी ही की जा सकती है।

इस प्रकार का प्रस्ताव लेकर यदि चिंतन के क्षेत्र में कोई आता है, तो हम उसकी बात यह कह कर नहीं टाल सकते कि विज्ञान के क्षेत्र का सिद्धांत साहित्य में नहीं लगता। हृदय और मस्तिष्क वाले विभाजन की चर्चा तो आज कोई समझदार व्यक्ति नहीं करता, पर अब सर्जनशीलता भी संकुचित अर्थ में नहीं समझी जाती। युग की प्रतिभा धर्म, साधना, दर्शन, आचरण, चिंतन (जिसके अंतर्गत

सभी मानवीय ज्ञान के क्षेत्र आ जाते हैं), साहित्य, कला और विज्ञान किसी भी क्षेत्र में सर्जनात्मक उपलब्धि ग्रहण कर सकती है। विभिन्न युगों की सर्जन प्रक्रिया का चरम उत्कर्ष विभिन्न क्षेत्रों में देखा भी गया है, कभी धर्म में, कभी साधन में, कभी दर्शन में, कभी सामाजिक या राजनीतिक क्षेत्रों में, कभी साहित्य या कलाओं और इनमें कलाओं में भी कभी किसी में और कभी किसी में, युग ने सर्वाधिक अपने को सार्थक किया है। ऐसी स्थिति में अन्य क्षेत्रों में प्रमुख का प्रायः अनुकरण या अनुसरण हुआ है। संभव है कि आधुनिक युग वैज्ञानिक सर्जनशीलता के स्तर पर ही प्रमुखतः संचरणशील हो रहा हो और साहित्य अपने युग के भावबोध की अद्वितीय और अप्रतिम विशिष्टता को ग्रहण करने के लिए अणु की आकस्मिक तथा परिवर्तनशील सर्जनशीलता से अनुप्राणित और उत्प्रेरित होने के लिए विवश हो।

जो भी हो आधुनिकता की समस्या को जब तक हम अपनी सर्जनशीलता की मौलिक चुनौती नहीं स्वीकार करेंगे, हम किसी निष्पत्ति तक पहुंचने की आशा नहीं कर सकते। बंधान बांध सकते हैं, मूल्यों की घटाटोप व्याख्या भी कर सकते हैं, पर अपने सार्थक अस्तित्व की अनुभूति तक नहीं पहुंच सकते। किसी वस्तु की सार्थकता महान या गरिमामंडित होने में न होकर उसके मात्र 'होने में' हो सकती है, यदि यह होने की अनुभूति गहरी और विशिष्ट हो। यह दृष्टिकोण कि महान हुए बिना चल नहीं सकता और आधुनिकता हमारी चर्चा का विषय तभी होगी जबकि महान हो, फिर महान वही हो सकता है जो महान परंपरा के साथ हो, न केवल बहस को गलत दिशा में मोड़ देता है, वरन उन विसंगतियों और असंगतियों में भी हमको फटका देगा जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है।

आधुनिकता और साहित्यसंकलन

इधर कई वर्षों से साहित्य संकलन निकालने की परंपरा चल निकली है। यदि इस प्रवृत्ति का मूल खोजा जाए तो इसका संबंध विभिन्न साहित्यकारों द्वारा संपादित और संचालित पत्र-पत्रिकाओं से स्थापित हो सकता है। पिछले वर्षों में इस प्रकार के अनेक प्रयत्न हुए हैं, विशेषकर नए लेखकों और कवियों द्वारा साहित्य की चली आती परंपराओं तथा प्रतिष्ठित साहित्यकारों के सामने अपनी बात कहने तथा अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करने में प्रत्येक नए युग के साहित्यकार और कलाकार को कठिनाई होती है। प्रायः आगत युग की भावनाओं और आदर्शों से अनुप्राणित होने के कारण उनको प्रारंभ में सामयिक सहानुभूति कम मिल पाती है, उसकी अपेक्षा उनका विरोध अधिक सक्रिय होता है। ऐसी स्थिति में एक सीमा तक अपनी रक्षा के भाव से और उससे भी अधिक अपने आंतरिक विश्वास और अन्वेषित मूल्यों को साहस के साथ व्यक्त करने के लिए पत्र-पत्रिकाओं का माध्यम स्वीकार करते हैं। इस प्रकार वे आधुनिकता के आंदोलन का नेतृत्व इनके द्वारा करते हैं, और इस दृष्टि से उनके व्यक्तिगत विचारों का अंतर महत्वपूर्ण नहीं हो पाता। वे इस आंदोलन में एक साथ भाग लेते हैं। आधुनिकता की दृष्टि से इन समस्त विभिन्न विचारों और कभी कभी आदर्शों के लेखकों में आंतरिक प्रकृतिगत एकता रहती है। वे पुराने परंपरावादी साहित्य और साहित्यकारों से संघर्ष करके अपनी नवान्वेषित भावभूमि और नए मूल्यों को जनता के सामने इन पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से लाने का अथक परिश्रम करते हैं।

हिंदी के क्षेत्र में ऐसा ही हुआ है। लेखकों के द्वारा अनेक छोटे-बड़े पत्र निकालने के प्रयत्न हुए हैं जो आर्थिक कठिनाइयों के कारण प्रायः सफल नहीं हो सके कुछ ने सरकार अथवा प्रकाशकों से समझौता करके अपने अस्तित्व की रक्षा अवश्य की है, परंतु आंदोलन के विभिन्न पक्षों को लेकर चलनेवाले सभी पत्रों की स्थिति शोचनीय रही है। पर पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन संबंधी इसी असफलता से वास्तविक आंदोलन को धक्का नहीं पहुंच सका है। इसके विपरीत इन विभिन्न प्रयत्नों ने आधुनिकता की जड़ें मजबूती के साथ जमा दी हैं। व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाओं में तथा प्रकाशनों में इन लेखकों की कृतियों को वही सम्मानपूर्ण स्थान मिलने लगा है जो अन्य प्रतिष्ठित लेखकों की कृतियों को मिलता है। इतना ही नहीं, वरन साहित्य धारा धीरे धीरे नवलेखन को स्वीकृत हो चली है। अपने आप में इस आंदोलन की यह सबसे बड़ी सफलता है।

इस सफलता के बावजूद ये लेखक इस स्थिति में संतुष्ट नहीं रह सके। विभिन्न व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाओं में सम्मानपूर्ण स्थान पाकर भी ये लेखक यह अनुभव

करते हैं कि इतने प्रयत्नों के बाद जो उनका व्यक्तित्व संगठित हुआ है, उनको अपने अन्वेषित आदर्शों और नए मूल्यों की जो भावभूमि मिल सकी है, वह कहीं बिखर न जाए, भ्रमों से आच्छादित न हो जाए। इनमें आधुनिकता को लेकर कोई आंतरिक एकता है जो उनके विचारों के अंतर के रहते हुए भी साहित्य के नए संदर्भों और नई भूमिकाओं को स्पष्ट करने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। उनमें अभी एक ऐसे माध्यम की खोज की भावना विद्यमान है जिससे वे अपने संगठित व्यक्तित्व को अधिक से अधिक स्पष्ट और सजीव आधार प्रदान कर सकें। इसी कारण जब पत्र-पत्रिकाएं नहीं चल सकीं, तो उन्होंने नए साहित्य के वार्षिक तथा अर्धवार्षिक संकलनों का माध्यम अपने इस उद्देश्यपूर्ति के लिए स्वीकार किया। इस प्रकार के नए साहित्य के संकलनों की परंपरा दूसरे देशों में भी रही है, और इस दिशा में इससे भी प्रेरणा ग्रहण की गई है।

इन संकलनों की मौलिक दृष्टि और प्रेरणा यही है, और इनकी सार्थकता भी इसी में हो सकती है। परंतु इन सम्मिलित प्रयत्नों में केवल लेखक की स्थिति से भिन्न संपादकों तथा लेखक प्रकाशकों का हाथ भी कई कारणों से बढ़ता जा रहा है। इनकी दृष्टि सहयोगी लेखकों के प्रकाशन से भिन्न होना भी स्वाभाविक है। नए लेखकों के सामने अपनी बात का आग्रह विशेषरूप से हो सकता है, और उनका उद्देश्य भी इन प्रकाशनों के चलाने में अपना आंदोलन ही प्रमुख रहेगा, जबकि यह बात लेखक संपादकों तथा लेखक प्रकाशकों के लिए नहीं कही जा सकती है। लेखक संपादकों को यदि प्रकाशक की ओर अन्य सुविधाएं और स्वतंत्रता प्राप्त भी हो तो भी उनके मन में ऐसा संपादकीय दायित्व जन्म ले सकता कि उनके द्वारा संपादित संकलन उत्कृष्ट संकलन हो अथवा तथाकथित प्रतिनिधि संकलन हो। परिणाम स्पष्ट है कि इस प्रकार के संकलनों में आधुनिकता के स्थान पर सबकी रचनाएं स्थान पा सकें---इसका आग्रह बढ़ जाएगा, अथवा उत्कृष्टता के मोह में सभी कोटि की रचनाएं संजोने की प्रवृत्ति होगी। ऐसा नहीं कि इस प्रकार के प्रयत्न अपने आप में साधु अथवा प्रशंसनीय नहीं हैं। पर लेखकों के नाम पर और उनके सामूहिक आंदोलन के नाम पर ये प्रयत्न महत्वहीन ही नहीं, निरर्थक भी हैं। एक सीमा तक नए साहित्य के आंदोलन के लिए भ्रामक भी। सभी कोटि के उच्चकोटि के साहित्यकारों का सहयोग पाने तथा उनकी उत्कृष्ट रचनाओं को संकलित और प्रकाशित करने का भार व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाओं पर है ही, इसके अतिरिक्त इसके लिए सामान्य प्रकाशकों की वैसे भी कमी नहीं हो सकती है। फिर लेखक इस अतिरिक्त दायित्व को क्यों लें, यदि लेना ही हो तो सहयोगी प्रकाशन के रूप में जिससे उनकी अन्य समस्याओं का भी समाधान हो सके।

वास्तव में लेखक संपादकों के इसी दृष्टिकोण से प्रेरणा ग्रहण कर कुछ लेखक-प्रकाशकों ने संकलन के कार्य को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया है। प्रकाशकीय

दृष्टिकोण सदा खपत का रहेगा, और खपत की दृष्टि से सबके सहयोग तथा उत्कृष्ट साहित्य के ये दोनों नारे बहुत उपयोगी हैं। लेखक संपादकों ने इस प्रकार की कोई घोषणा नहीं की, वास्तव में उनको लेखकों के सहयोग पर ही चलना था और उसके लिए नवलेखन का नेतृत्व करना आवश्यक हो जाता है। पर उनकी संपादन नीति से यह स्पष्ट हुआ है कि संपादक की हैसियत से लेखकों के प्रति तटस्थ भाव रखना आवश्यक है, यही नहीं यह तटस्थता रचनाओं की उत्कृष्टता के संबंध में भी रहनी चाहिए। इस प्रकार उनका उद्देश्य बहुत कुछ नए साहित्य संकलन के स्थान पर अच्छा साहित्य संकलन हो गया। यहां कह देना आवश्यक है कि साहित्य में सबका प्रतिनिधित्व कर पाना और उत्कृष्टतम पा सकना ये दोनों बातें बहुत सापेक्ष रीति से ही सत्य होती हैं। इसके लिए अनेक साधन चाहिए, जिनमें अर्थ कम महत्वपूर्ण नहीं है। और लेखकों द्वारा आयोजित कार्यों में उसकी नितांत कमी का होना स्वाभाविक है। लेखक तो किसी उद्देश्य के लिए ही एकत्र हो सकते हैं, संपादकों द्वारा उत्कृष्ट और प्रतिनिधि के चयन के लिए नहीं। ऐसी प्रतियोगिता में तो वे कहीं किसी भी प्रकाशक द्वारा संचालित पत्र में भाग ले सकते हैं। वे केवल उसी पत्र अथवा संकलन के लिए त्याग कर सकते हैं जिसमें उनकी रचना का नहीं वरन उनके दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व हो। उनकी (नए लेखकों की) दृष्टि में इन पत्रिकाओं अथवा संकलनों का महत्व इसी बात में है कि वे पाठकों को नवीनतम साहित्य की विचारधाराओं से और भावभूमियों से परिचित करा सकें और साथ ही विविध क्षेत्रों में होनेवाले नए प्रयोगों तथा उनकी संभावनाओं पर भी प्रकाश डाल सकें।

जैसा पहले कहा गया है लेखक प्रकाशकों द्वारा आयोजित संकलनों में संपूर्ण साहित्य के प्रतिनिधित्व तथा उत्कृष्ट रचनाओं के संग्रह का आदर्श अपनाया गया। इस प्रकार के प्रयत्न अपने आप में महत्वपूर्ण हैं, पर यह भी स्पष्ट है कि इनसे पूर्वोल्लिखित नवलेखन के आंदोलन के चलने की आशा नहीं की जा सकती। परंतु यदि बात यहीं समाप्त हो जाती तो भी इतना तो होता ही कि इन संकलनों में हमको अपने समय का अपेक्षाकृत अच्छा साहित्य एक साथ पढ़ने को मिल सकता। पर सन 57 के अक्टूबर मास में 'हंस' के नवीन साहित्य संकलन रूप में प्रकाशन ने इस विषय में कुछ अन्य प्रश्नों की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया था। 'हंस' हिंदी साहित्य का एक प्रतिष्ठित पत्र रहा है, और उसके पिछले इतिहास के माध्यम से हिंदी की साहित्यिक गतिविधि का परिचय मिलता है। वर्षों से यह पत्र बंद रहा था, उसके पुनर्प्रकाशन की घोषणा से आशान्वित हो उठना भी सहज था। पर उसके इस रूप को देख कर मन को परितोष नहीं हो सका, इस कारण नहीं कि यह रूप उसके पुराने रूप से नितांत भिन्न था, वरन इसलिए कि उसके पास या तो अपनी कोई भूमि थी ही नहीं अथवा जो थी वह लेखक की अपनी नहीं थी।

अन्य संकलनों के स्वर से भिन्न इस संकलन की प्रस्तावना में संपादकों ने यह घोषणा की थी—'साहित्य जगत में आज अनेक मत-मतांतर और उनसे भी अधिक पूर्वग्रह काम कर रहे हैं। हम उनके पचड़े में नहीं पड़ना चाहते—इसलिए नहीं कि हमारे पास कोई विचारधारा नहीं है बल्कि इसलिए कि सृजन-व्यापार में कोरा मतवाद नहीं, सृष्टि प्रधान होती है। यह पढ़कर एक बार मन का उल्लसित होना स्वाभाविक है, विशेषकर यह जानकर कि एक विशिष्ट मतवाद के समर्थक लेखक की भावना इतनी उदात्त है। अगला वाक्य साहित्य के संबंध में और भी व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है : 'सुंदर से सुंदर मतवाद हमारी दृष्टि में व्यर्थ है यदि वह गहरी मानवीय संवेदनाओं में डूबे हुए उत्तम साहित्य की सृष्टि को प्रेरणा नहीं देता। सृष्टि ही प्रमाण है।' इस साहित्य की व्याख्या से शायद ही किसी का विरोध हो। अभी बहुत समय नहीं हुआ जब साहित्य में भी मतवाद को ही प्रमाण माना जाता था, ऐसा न मानने वाला अनिवार्यत: पलायनवादी, प्रतिक्रियावादी, कलावादी न जाने किन किन उस समय की प्रचलित गालियों का शिकार होता था। यहां तो समन्वयवाद के अति आग्रह से मतवाद को ही व्यर्थ बना डाला गया है, जबकि औरों का कहना मात्र इतना था कि मतवाद बहुत सार्थक हो सकता है, पर साहित्य में उसे भी जीवन की संवेदनात्मक भूमिका पर ही उतरना होगा।

पर संकलन के प्रारंभ में इस घोषणा को पढ़कर सामान्य पाठक के मन में यह जिज्ञासा उठ सकती है कि निश्चय ही अन्य इस प्रकार के संकलनों में मतवाद और पूर्वग्रहों को प्रश्रय मिला होगा, नहीं तो प्रस्तुत संकलन के संपादकों को इस बात की चिंता क्यों होती ? इधर जितने साहित्य संकलन देखने में आए हैं उनमें प्राय: रचनाओं का ही संकलन किया गया है, उनमें वाद-विवाद नहीं उठाए गए हैं। संकलनों में इसके लिए गुंजाइश ही किस प्रकार हो सकती थी, यह बात दूसरी है कि लेखक की रचनाप्रक्रिया अथवा दृष्टिकोण स्पष्ट करनेवाले कुछ लेख स्वीकार कर लिए गए हों। यह एक बात हो सकती है कि अन्य संकलनों में जो साहित्य चुना गया है वह स्वयं विवादास्पद हो। इस दृष्टि से विचार करने पर भी प्रस्तुत संकलन के लेखकों और रचनाओं से भिन्न कोटि के लेखक अथवा रचनाएं अन्य संकलनों में भी नहीं मिलतीं। और इस रचनात्मक साहित्य के लिए स्वयं संपादकों की घोषणा है कि यह साहित्य मर्म की बात कहता है और समाज के मर्म को छूता है, मानवीय संवेदनाओं को नित नई गहराई और नित नया विस्तार देता है, मानवीय सत्य का अनुसरण करता है, अपने विशिष्ट ढंग से जनमंगल का आयोजन करता है, हमारी सौंदर्यानुभूति की नई तहें खोलता है, सत्यासत्य का निर्णय करने वाले हमारे विवेक को उद्दीप्त और पुष्ट करता है मानव भविष्य की हमारी आस्था को···। शायद यह आग्रह संपादक प्रकट भी नहीं करेंगे, कि लगभग इन्हीं लेखकों की रचनाएं (जो अन्यत्र प्राय: उत्कृष्ट भी हैं) अन्य संकलनों

('निकष', 'संकेत', 'नयी कविता', 'कविता', 'आभिजात्य' आदि) में इस साहित्यिक आदर्श की नहीं है।

अब प्रश्न उठता है कि साहित्य में मतवाद और पूर्वग्रह को प्रधान मानकर चलनेवाले लोग कौन हैं? क्या उन्होंने भी इस प्रकार के संकलन करने का दायित्व लिया है? संपादकीय घोषणा यह भावना पाठक के मन में अवश्य जगाती है। यदि यह ऐसा नहीं है, तब तो यह घोषणावाक्य निरर्थक हो जाएगा। दूसरे 'यह साहित्य' पर भी पाठक का मन कुछ क्षणों के लिए रुकेगा। इसका यदि सीधा अर्थ अच्छा और उत्कृष्ट साहित्य लिया जाए, तो 'हमारी भावभूमि' का क्या अर्थ होगा, अथवा उसकी क्या सार्थकता होगी? इस रूप में तो यह भावभूमि साहित्यकार मात्र की है और दूसरे संकलनों में भी साहित्यकारों की रचनाओं को ही स्थान मिल सका है। इसके अतिरिक्त न तो पिछले संकलनों में अच्छे साहित्य की कमी है और न प्रस्तुत संकलन में केवल एक ही कोटि का साहित्य है। ऐसी स्थिति में यह संकलन अन्य से किस अर्थ में भिन्न अथवा विशिष्ट है, यह समझ सकना सरल नहीं है। सच बात तो यह है कि यह संकलन अन्य संकलनों की अपेक्षा प्रतिनिधि तो है ही नहीं, रचनाओं की दृष्टि स्पष्टतः हीन भी है। परंतु इन दोनों बातों का सीधा दायित्व संपादकों का नहीं भी माना जा सकता है, क्योंकि इस विषय में उनके सामने अनेक कठिनाइयां हो सकती हैं। लेखकों का सहयोग सदा समय पर और इच्छानुसार नहीं मिल पाता, रचनाओं के चयन की कठिनाई भी हो सकती है। परंतु ऐसी स्थिति में यदि संपादक केवल यह दावा पेश करते कि हम पाठकों के सामने एक अच्छा साहित्य संकलन प्रस्तुत करना चाहते हैं, पर्याप्त होता।

हां, एक भेद की बात अवश्य है। अन्य संकलनों में मतवादों से अलग रहने की इस प्रकार घोषणा भले ही न की गई हो, पर उनमें 'साहित्य की आस्था जैसी किसी लेखमाला के माध्यम से आस्थावाद जैसे किसी वाद के समर्थन के लिए संयुक्तदलीय मोर्चा भी नहीं कायम किया गया है। अन्य सभी संकलन चाहे नवीन साहित्य के हों अथवा उत्कृष्ट और प्रतिनिधि साहित्य के, साधारण अर्थ में संकलन ही हैं, जबकि प्रस्तुत संकलन में आस्थावाद के प्रवर्तन ने साहित्य के संकलन-रूप को ही ग्रस लिया है। इस लेखमाला के संपादकों की धारणा तो यही है कि उनके द्वारा प्रतिष्ठित साहित्यिक मूल्यों की उद्घोषणा ही इसमें है। परंतु इस लेखमाला को संपादकीय वक्तव्य से प्रारंभ कर कई पीढ़ियों के आदरणीय और स्नेहास्पद बंधुओं के लेखों और पत्रों को पढ़ लेने के बाद भी भारी गोरखधंधा ही लगा। सूत्र, रूपक, अध्यात्म, उपदेश, प्राचीन धर्मग्रंथों के साक्ष्य का जहां तक प्रश्न है, जो कुछ कहा गया है सुंदर कहा गया है, पर आधुनिक जीवन के ज्वलंत आस्था जैसे प्रश्न पर इनसे कुछ प्रकाश पड़ने की आशा करना व्यर्थ ही है।

इन आदरणीय बंधुओं के अतिरिक्त लेखकों के लेखों में एक बात सबसे

अधिक प्रत्यक्ष होकर उभरी है। उनके अनुसार आस्था के प्रश्न को लेकर केवल कुछ दिग्भ्रांत लेखकों को छोड़ कर अन्य साहित्यकारों के सामने कोई समस्या नहीं है। वे सभी व्यापक मानवतावादी और जनवादी लेखक हैं, उनके सामने अनास्था का सवाल कभी उठता नहीं, वे सदा मानव में विश्वास लेकर चले हैं। कुछ का मत तो यह भी है कि इन कतिपय दिशाभ्रष्ट लेखकों के प्रति भी उनकी सहानुभूति (दया) होती, यदि वे केवल अपनी कुंठाओं की अभिव्यक्ति भर करके संतुष्ट रह सकते। उनकी दृष्टि में ये कुंठाग्रस्त आस्थाहीन लेखक अपने निहित स्वार्थों के वश होकर अपने मतवाद का निर्लज्ज भाव से प्रचार भी करते हैं। यही नहीं, इसके लिए इनको अमरीकी आश्रय भी प्राप्त है। काफी जोरदार शब्दों में इन आस्थाहीन लेखकों का विरोध किया गया है, पर सभी संदर्भों का ध्यानपूर्वक मनन करके भी यह पता लगा पाना कठिन है कि दो व्यक्तियों (अधिक से अधिक तीन चार) के अतिरिक्त अन्य कौन वे लेखक हैं जिनकी इतनी चिंता, या जिनसे इतनी सतर्कता बरतने का संयुक्तदलीय नारा बुलंद किया गया है। यद्यपि यह भी बार बार घोषित किया गया है कि ये लेखक साहित्य की बलवती धारा के सामने महत्वहीन हैं, हमारा साहित्य व्यापक मानववादी पथ का अनुसरण कर रहा है।

पहली बात जिसकी ओर ध्यान जाता है वह यह है कि यदि वास्तव में मान ही लिया जाए कि कतिपय इस प्रकार के लेखक हमारे बीच हैं, तो भी आस्था जैसे महत्वपूर्ण प्रश्न को केवल उन्हीं के चारों ओर फेरते रहने का प्रयोजन क्या हो सकता है, जबकि इन विचारकों का ही मत है कि साहित्य की प्रधानधारा को ये प्रभावित नहीं कर सके हैं। फिर यदि ये किसी योजना के साथ अपने निहित स्वार्थों को सिद्ध करने में संलग्न हैं तो इन्हें न तो कुंठित कहा जा सकता है और न आस्थाहीन, विशेषकर जब इस लेखमाला में आस्था का अर्थ बहुत व्यापक माना गया है जिसमें आध्यात्मिक आस्था से लेकर साधारण नैतिक जीवन के विश्वास तक को एक ही स्तर पर स्वीकार कर लिया है। अपने ढंग से सोचने-समझने तथा कार्य करने की आस्था तो उनमें है ही।

दूसरी बात है कि यदि ये लोग केवल टीलों पर खड़े होकर चिल्लानेवाले प्रलापी हैं और साहित्य का कारवां आगे बढ़ता जा रहा है, तो हमारे कारवां के बीच के लोगों को यह क्या सूझ गया कि वे सबका रास्ता रोक कर उनसे ही उलझ गए। और प्रत्यक्ष में ऐसा दृश्य उपस्थित कर दिया कि इनसे समझ लिए बिना आगे का निस्तार नहीं, यद्यपि भीड़ का मोरेल न गिर जाए इस लिए कहते यही रहे कि इनकी चिंता करना भी बेकार है। ऐसी स्थिति में तो उचित यही था कि उनको छोड़ कर कुछ अपने निर्माणात्मक विचार प्रकट किए जाते।

तीसरी बात है कि मान लिया जाए कि अपनी बात की भूमिका के रूप में इन अविश्वासियों की पोल खोलना आवश्यक ही था, तो इन विचारकों की अपनी स्था-

पना क्या है। मानववाद, जनवाद, व्यापक मानववादी दृष्टि आदि, ऐसे अनेक नारे अवश्य इस लेखमाला में बिखरे पड़े हैं, पर उनके आधार पर एक संतुलित विचार-भूमि तैयार कर पाना सहज नहीं है। इस लंबी विस्तृत लेखमाला के बीच यह तै कर पाना भी सरल नहीं है कि वास्तव में इन विचारकों में किनको कुछ लोगों के अनास्थावान होने में खतरा लग रहा है कि और कौन इन ही कुछ लेखकों के आस्था संबंधी आग्रह पर संदेह की दृष्टि से देखते हैं। यहां तो ऐसा लगने लगता है कि ये तथाकथित लेखक इतने प्रधान हो उठे हैं कि उनकी आस्था है तो वह भी अग्राह्य है और उनकी अनास्था है तो वह भी त्याज्य है। यह माना जा सकता है कि यह विभिन्न विचारकों की अपनी अपनी व्याख्या है और संपादकों ने इस विषय में प्रारंभ में ही स्पष्ट कर दिया है कि प्रत्येक विचारधारा का दायित्व उन पर नहीं है। वास्तव में इस लेखमाला की विचारधाराओं का दायित्व लेना सरल था भी नहीं। इसमें एक सीमा पर वे विचारक हैं जो आस्था, विवेक, व्यक्तिस्वातंत्र्य, दायित्व जैसे शब्दों को कोरा पलायनवादी भ्रमजाल मानते हैं। और दूसरी ओर वे विचारक हैं जो परंपरा से विद्रोह, नव अन्वेषण , व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा, व्यक्ति स्वातंत्र्य आदि बातों को स्वीकार करके चलते हैं, केवल पथभ्रष्ट लोगों के द्वारा उनके प्रयोग पर उन्हें आपत्ति है। संपादकीय वक्तव्य के अनुसार भी यही लगता है कि उनको स्वयं सौंदर्यानुभूति की नई तहों, सत्यासत्य का निर्णयकारी विवेक तथा मानवभविष्य के प्रति आस्था में विश्वास है। लेकिन इन्हीं में से एक संपादक ने अपने लंबे लेख में आस्था का नाम लेनेवाले उन विशिष्ट लेखकों की आस्था को अनास्था का विषैला रूप माना है।

जैसा कहा गया है, इस लेखमाला में विचारों की विभिन्नता मिलती है, यदि समस्त उलझाव के बीच विचारों की स्थिति स्वीकार कर ली जाए। और यह चिंतन के क्षेत्र में स्वास्थ्य का लक्षण माना जा सकता है। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि यदि इन विचारों को प्रस्तुत संदर्भ से अलग रख कर देखा जाए तो इनमें से अधिकांश से असहमत नहीं हुआ जा सकता। यह ऐसा इस कारण है कि ये विचार आधुनिक विचारधारा के अंग हैं और इनको हम किसी न किसी रूप में आज तक विकसित करते आए हैं। प्रस्तुत संदर्भ से अलग इसलिए कहता हूं कि यहां इनको आधुनिक विचारधारा के अंग के रूप में न रख कर कुछ लेखकों की प्रतिक्रिया के रूप में विकसित किया गया है।

ऐसा भी नहीं है कि युग में (प्रस्तुत युग में) आस्थाओं को झटके लगने की बात को माना ही न गया है। प्रारंभिक टिप्पणी में इसे स्वीकार किया गया है और एक प्रकार से इस लेखमाला की यही प्रेरणाभूमि मानी जा सकती है। आगे चल कर कई लेखकों ने यह भी स्वीकार किया है कि अनेक बार साम्यवादी देशों में भी आस्था टूटने के कारण मिले हैं। स्पष्टतः पूंजीवादी देशों में तो इसके लिए पग-

पग पर गुंजाइश माननी ही चाहिए। अतएव इन विचारकों को इस बात की शिकायत नहीं है। वे सांघातिक मानते हैं खंडित विश्वासों के जीवन दर्शन को। वास्तव में इस स्थिति को ही अपनी समस्त प्रेरणाओं का स्रोत मानना व्यक्ति और समाज दोनों के लिए घातक है। पर एक प्रश्न सजग पाठक के मन में उठता है कि यदि प्रजातांत्रिक और समाजवादी दोनों ही आधुनिक व्यवस्थाओं में आस्था के टूटने के खतरे मौजूद हैं, अतः या तो कोई तीसरा रास्ता होना चाहिए अथवा उसके लिए निराधार हो जाना स्वाभाविक है।

हमारे लेखक यद्यपि साम्यवादी देशों में विश्वास टूटने की बात मानते हैं, पर इस बात पर अधिक बल देने से उनमें आक्रोश जागता है। वे उन देशों की उपलब्धियां गिनाकर कहते हैं कि क्या सामाजिक नैतिकता की स्थापना अन्य व्यवस्था में कभी इस प्रकार की हो सकी है। पर यह तर्क नहीं है, उपलब्धियां तो प्रत्येक युग और व्यवस्था की होती ही हैं। और समाजवाद की सबसे महत्वपूर्ण देन है जनचेतना का विकास, और अगले युगों के चरण इसी विकास के स्तर से अग्रसर भी होंगे। महत्वपूर्ण बात है आगे का रास्ता, उसकी खोज, उसके नवीन मूल्यों की खोज। यह ऐसा भी नहीं कि आगत या वर्तमान युग पिछले युगों के ऐतिहासिक विकास को झुठला सकता है। प्रस्तुत लेखमाला में इस तीसरे रास्ते अथवा नए रास्ते को किसी न किसी रूप में स्वीकार अवश्य किया गया है, उसको अस्वीकारना अब संभव है भी नहीं। पर इन लेखों में इस विकासक्रम को सीधे ढंग से ग्रहण न करके समन्वयवाद के रूप में और मानववाद के रूप में सारी वस्तुस्थिति को उलझा ही दिया गया है। संभवतः विकासक्रम को स्वीकार कर लेने पर उनको भय था कि वे भी आधुनिक युग की चेतना के साथ हो जाएंगे और उनकी पुरानी अर्जित ख्याति व्यर्थ चली जाएगी! अतः यह आवश्यक हो गया कि उन सभी मूल्यों की चर्चा पुरानी स्थापनाओं के अंतर्गत स्वीकार कर ली जाए। यह कोई नई बात नहीं है, सांप्रदायिक विचारश्रेणियों की यह सहज परिणति सदा रही है। उनका आग्रह सत्य से अधिक इस बात का रहता है कि वह उनके मतवाद के अंतर्गत ही फिट हो सके, जबकि स्वतंत्र चिंतक इतिहासक्रम में सत्य की दोनों स्थितियों को स्वीकार कर लेने में आगा-पीछा नहीं करता।

यहां आस्था के प्रश्न पर विचार करना उद्देश्य नहीं है, उसके लिए स्वतंत्र रूप से लिखना ही उचित होगा। पर इन असंगतियों के अतिरिक्त भी यह मान लेने में मुझे संकोच नहीं है कि इस प्रकार के चिंतन में, विशेषकर लेखमाला प्रस्तुत करने में लाभ ही होगा। इसका अनौचित्य तभी उभरता है, जब लेखकों-संपादकों की प्रारंभिक मतवादों से दूर रहने की घोषणा की ओर ध्यान जाता है। समझना कठिन है कि मतवाद का अर्थ वे क्या समझते हैं, मत और मतवाद में क्या कोई मौलिक अंतर हो सकता है? शायद मतवाद में मत का आग्रह अधिक रहता है।

पर इस दृष्टि से भी यह लेखमाला दृष्टव्य है। इसके साथ ही लगभग सामूहिक रूप से कुछ विपथगामी लेखकों का (उनके माध्यम से शायद किसी विचारप्रणाली का) विरोध भी प्रासंगिक नहीं जान पड़ता। उनके ही शब्दों में ये लेखक न तो प्रतिनिधि धारा से संबद्ध हैं, और न उसको प्रभावित करते हैं, फिर उनको वीर योद्धा के स्तर पर स्वीकार करने का प्रयोजन भी क्या हो सकता है। इन पागलों को अपनी मृत्यु मरने दो, इनके लिए सिरदर्द बेकार है। और यदि सचमुच ये बने हुए ही पागल हैं और इनका काम केवल भीड़ को अपनी ओर आकर्षित करना ही है, तब भी जिस आत्मविश्वास के साथ हम आगे बढ़ रहे हैं, उसमें इनसे भयभीत होकर इस प्रकार मोर्चा संभालने जैसी बात तो नहीं लगती। इस प्रकार तो इनको अनावश्यक महत्व देना होगा, जब भीड़ आगे बढ़ चुकेगी ये स्वयं दौड़ कर पीछे शामिल हो जाएंगे।

पर बात इतनी सीधी नहीं है। इस प्रकार कुछ को योद्धा के स्तर पर स्वीकार करने में भीड़ के साथ घोषित होकर चलनेवाले योद्धाओं का अपना उद्देश्य भी हो सकता है। इस प्रकार भीड़ के कंधों पर चढ़कर ललकारने में लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट होता है, और हाथ में वीरता का एक अवसर आता है। जो चेतना और जो नवीन मूल्य भीड़ के मानस में विकसित हो रहे हैं उनके प्रतिनिधित्व का गौरव इस प्रकार सहज ही मिल सकता है। यही कारण है कि एक ओर सामूहिक रूप से इन तथाकथित पागलों (कौन हैं, कितने हैं, कहना कठिन है) का घोर विरोध प्रदर्शित किया जा रहा है तो दूसरी ओर मानववाद की समन्वयात्मक भूमिका का आग्रह भी प्रकट किया जा रहा है। पर आधुनिक युग की ही यह मौलिक विशेषता है कि आज साहित्य का लेखक इस प्रकार की वीरताओं पर विश्वास नहीं करता, वह अपने आप युगीन मूल्यों और भावभूमियों के प्रति जागरूक है। वह न पागलों के रूप में प्रतिपक्षी योद्धाओं की कल्पना पर ही विश्वास करता है और न उनसे जूझनेवाले पक्षीय योद्धाओं को अपने कंधों पर खड़े होने देगा। वह साधारण साथी के रूप में दोनों को ग्रहण करेगा, फिर वह विचार के स्तर पर किसी से भी आदान-प्रदान कर सकता है। फिर उसको इस प्रकार के प्रपंच आज नहीं उलझा सकते कि आस्था भी ठीक, अनास्था भी ठीक, स्वातंत्र्य भी ठीक, विवेक भी अच्छी चीज है, मानवभविष्य की कल्पना सुंदर है, सौंदर्यानुभूति की नई तहों की खोज भी आवश्यक है, लेकिन उस दूकान पर माल नकली है, असलीवाला तो इसी दूकान पर मिलता है।

जहां तक प्रस्तुत संकलन का साहित्य पक्ष है, ऐसा कहा गया है अन्य संकलनों से भिन्न नहीं है। सभी कवि और लेखक नवलेखन के क्षेत्र के जाने-माने व्यक्तित्व हैं। इस संकलन में कविता का भाग स्पष्टतः अन्यों की अपेक्षा उत्कृष्ट है। प्रथम कविता खंड की तीनों लंबी कविताएं सुंदर हैं। मुक्तिबोध की कविताएं काव्य-

शिल्प की दृष्टि से केदार और श्रीकांत की कविताओं से कम गठित हैं, पर संवेदना की व्यापकता और तीखेपन की दृष्टि से जनजीवन की भावभूमि के आविर्भाव का समर्थ रूपक प्रस्तुत करती हैं। साथ ही उसमें अनुभूतियों का मंथन भी है। केदार ने कल्पना के स्तर पर कई संवेदनात्मक स्थितियों को क्रम से प्रस्तुत किया है, चित्र परिवर्तन के साथ अनुभूतियों के संदर्भ भी बदले हैं। 'अंधकार का संशय' शिल्प और व्यंजना दोनों ही दृष्टियों से पूर्ण कविता है, इसमें नए युग के उदित होते विश्वासों को सशक्त प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। छोटी कविताओं में दुष्यंत कुमार और कीर्ति चौधरी की कविताएं अपनी कोमल व्यंजना के साथ सुंदर बन पड़ी हैं। परमानंद की कविता 'प्रतीक्षा का गीत' मानसिक स्थितियों का सूक्ष्म संकेत है। तीसरे खंड में भी वंशीधर की कविता अपनी चित्रमयता और प्रवाह की दृष्टि से और प्रमोद वर्मा की 'दंडक वन में' नामक कविता अपनी नवीन भावभूमि की दृष्टि से विशेष आकर्षक हैं। इसके अतिरिक्त इस संकलन में कविताओं को इसलिए भी महत्व देना चाहिए, क्योंकि इनमें ही आधुनिक दृष्टि का विशेष प्रतिनिधित्व हो सका है।

व्यंग्य कृतियों में नागर जी जैसे समर्थ व्यंग्यलेखक की रचना 'बाबूपुराण' हल्की है। मोहन राकेश की रचना 'विज्ञापन युग' छोटी है, पर वर्तमान युग पर तीखा व्यंग्य इसमें उभर सका है। लेखक ने सहज कथन शैली में यह प्रभाव उत्पन्न किया है, यह और भी महत्वपूर्ण है। हरिशंकर परसाई की 'एक तृप्त आदमी की कहानी' उसी असंपृक्त शैली में यथार्थ जीवन की गहराई से व्यंग्य उभारने में सफल हुई है, परसाईजी कठोर यथार्थ के सबल लेखक हैं। कृष्ण बलदेव ने प्रयोग किया है जो सफल हो सकने पर निश्चय ही सशक्त होता, पर प्रस्तुत रचना में प्रभाव और संवेदनाएं दोनों बिखर गए हैं। कहानियों में केवल एक कहानी 'परिन्दे' (निर्मल वर्मा) शिल्प और मानवीय संवेदना की गहराई की दृष्टि से श्रेष्ठ कहानी है। मोहन राकेश के एकांकी में आज की नैतिकता पर व्यंग्य है, इसके अतिरिक्त अन्य दृष्टियों से दोनों एकांकी साधारण हैं। अन्य साहित्यिक रूपों में उमरावजी की भ्रमण कहानी 'बर्लिन की झांकियां' सीधे-सरल ढंग से, पर रोचक शैली में लिखी गई हैं। रामकुमार के 'इण्टरव्यू' 'लूकाच से भेंट' में संक्षिप्त रेखाओं में भी हंगरी के इस लेखक का व्यक्तित्व उभरा है।

अंत में अन्य संकलनों के समान ही इसमें कमलेश्वर का लघु उपन्यास 'एक सड़क सत्तावन गलियां' पूरा दिया गया है। इस उपन्यास को पढ़कर यह अनुभव होता है कि लेखक में जीवन को ग्रहण करने की शक्ति और स्फुरण तो है, पर यथार्थ को आंतरिक गहराई से पकड़ सकने की दृष्टि अभी उसको नहीं मिल सकी है। इस उपन्यास का कथानक एक ऐसे समाज से लिया गया है जिसकी ओर अन्यों की दृष्टि नहीं गई है, और जो सामाजिक तथा नैतिक दोनों ही दृष्टियों से गिरा

हुआ है। लेखक ने इस जीवन को गहरी सहानुभूति के साथ देखने का प्रयास किया है, साथ ही उसको विश्लेषण करने का प्रयत्न भी किया है।

पहले कहा जा चुका है कि साहित्यकारों द्वारा आयोजित पत्र-पत्रिकाओं तथा संकलनों की सार्थकता इसी बात में हो सकती है कि उनके माध्यम से वर्तमान साहित्यिक धारा की गतिविधि और उसकी विकसित होती भावभूमि का समुचित परिचय मिल सके। साथ ही इनके द्वारा लेखकों के साहित्य के और जीवन के अन्वेषित मूल्यों का प्रतिनिधित्व हो सके।

संगति, असंगति और विसंगति

आधुनिक युग में हमारे चिंतन और अनुभव में एक नया आयाम जुड़ा है। ऐसा नहीं है कि पिछले युगों में दार्शनिक इस प्रक्रिया से अपरिचित थे, परंतु आज इस अवधारणा का जैसा व्यापक प्रयोग किया जा रहा था, वैसा पहले कभी नहीं था। नागार्जुन और कांट जैसे दार्शनिक परम ज्ञान या चरम सत्ता के संबंध में विचार करते हुए मनुष्य के भाषिक ज्ञान की सीमाओं को स्पष्ट करते हैं। मनुष्य का अनुभव, ज्ञान और भाषा सीमित हैं, इनके माध्यम से असीम और परम सत्ता को जानना संभव नहीं है। अपने अपने ढंग से नागार्जुन और कांट दोनों ने माना कि यह चरम सत्य अज्ञेय है, शून्य है। परंतु जाना नहीं जा सकता, इसलिए जानने या अनुभव करने का प्रयत्न नहीं करेंगे, ऐसा मनुष्य मानने के लिए तैयार नहीं। वह ज्ञान से ज्ञान का, तर्क से तर्क का और अनुभव से अनुभव का खंडन करके उन्हें अस्वीकार कर देगा, फिर इस ज्ञानातीत, तर्कातीत और अनुभवातीत स्थिति से पुनः अधिक विस्तृत, अधिक गहरे और अधिक सूक्ष्म तत्व की खोज में लग जाएगा। शंकर का अद्वैत एक उदाहरण इस तरह के प्रयत्न का है। शंकर की तर्क-पद्धति शून्यवादियों की है। पर साधारण ढंग से भी यह स्पष्ट है कि शंकर का अद्वैत असीम और चरम सत्य को दो-एक की सीमाओं से परे स्वीकार करता है। फिर थोड़ा गौर करने पर यह भी समझ में आ जाता है कि यह ससीम और असीम, क्षणिक और शाश्वत के अंतर्गत नहीं आता। पर यह भी है कि शंकर की दृष्टि में यह अद्वैत निषेधमूलक नहीं है। आगे कबीर जैसे संतों ने साधारण जन की भाषा में अधिक सरल ढंग से सवाल उठाया, जो सत्य सब से परे है वह द्वैत और अद्वैत के विवाद में कहां फंस गया है।

इस अवधारणा और उसकी प्रक्रिया को आधुनिक संदर्भ में इस प्रकार समझा जा सकता है, कि द्वंद्वमूलक, विरोधपरक और अस्ति-नास्ति के आधार पर चलनेवाली हमारी तर्कशैली, हमारा ज्ञान और अनुभव एक सीमा के आगे असमर्थ हो जाते हैं। हम 'अतीत' की स्थिति में पहुंच जाते हैं पर यह 'अतीत' पुनः हमारे ज्ञान और अनुभव के नए स्रोतों की खोज है। मनुष्य के लिए ज्ञाना-तीत और अनुभवातीत का यही अर्थ है। मध्ययुग में यह सब धर्म, दर्शन और साधना के क्षेत्र की समस्याओं से जुड़ा हुआ था। आज हमारे जीवन और उसकी मूल्यगत समस्याओं से इस प्रकार के चिंतन का गहरा संबंध स्थापित हो गया है। साथ ही आधुनिक साहित्य जीवन और उसके मूल्यों के संदर्भ में अपनी रचना-धर्मिता की समस्या के रूप में चिंतन और अनुभव की इस विशिष्ट स्थिति से जुड़ गया है। आधुनिक जीवन की इस स्थिति और प्रक्रिया को समझने में जो असमर्थ

हैं, वे बराबर साहित्य में मूल्यविहीनता, अर्थहीनता और अनैतिकता की चर्चाओं को पश्चिम का अनुकरण और बकवास मानते हैं। इसी तरह अकविता, अकहानी और अनाटक जैसी नई विधाओं की चर्चा को भी हास्यास्पद मान लिया जाता है। बहुत कुछ इसमें उधार लिया हो सकता है और हास्यास्पद भी हो, आश्चर्य नहीं। पर इससे समस्या न झुठलाई जा सकती है और न उसका महत्व कम हो सकता है।

हमारी द्वंद्वमूलक चिंतनपद्धति ने हमारे सारे जीवन को व्याख्यायित, अनुशासित और विकसित किया है। हम अपने अनुभव में समग्र से अलग इकाइयों की ओर बढ़े हैं, हम अपने ज्ञान में वस्तुओं-स्थितियों के विभेद के आधार पर बढ़े हैं और हमारी भाषा का सारा संस्कार विभेदमूलक है। मनुष्य समानता, एकरूपता और एकता का ज्ञान या अनुभव अथवा तर्कसिद्ध भी विरोध या विभेद के आधार पर ही करता है। मानवीय संस्कार, संस्कृति और मूल्यप्रक्रिया का स्वरूप द्वंद्वात्मक है। मूल्यों के क्षेत्र में हमारे सोचने का ढंग रहा है, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय, सत्य-असत्य,- शिव-अशिव, सुंदर-असुंदर। एक के बिना जैसे दूसरे को समझा नहीं जा सकता है। ऐसा लगता है कि एक के अभाव में दूसरा अस्तित्वहीन है। पिछले युगों में ऐसी मूल्यप्रक्रिया चलती रही है, जिसमें द्वंद्व के आधार पर ही धर्म, न्याय, सत्य की प्रतिष्ठा का प्रयत्न हुआ है।

उन्नीसवीं सदी में विज्ञान ने इस चिंतन को समर्थन ही दिया। उनका कार्य-कारणवाद, विकासवाद, निश्चयवादी क्रिया-प्रतिक्रिया संबंधी दृष्टिकोण इस द्वंद्वात्मक चिंतन के समर्थक हैं। अतः इस युग में नए मानवीय और सामाजिक मूल्यों का विकास तो हुआ, पर उनकी अवधारणा में मौलिक अंतर नहीं है। स्वतंत्रता, मुक्ति, बराबरी, व्यक्तित्व का विकास, प्रजातंत्र, साम्यवाद आदि सभी मूल्य द्वंद्वमूलक हैं, गैरबराबरी, पराधीनता, बंधन, जगत आदि के संदर्भ में ही इनकी प्रतिष्ठा है। मध्ययुग के धार्मिक संस्कार के वातावरण में जिन मूल्यों पर आस्था रही है, उनकी विफलता को धर्म और मध्ययुगी नेता के मत्थे मढ़ दिया गया। और इस नए युग में मानवीय मूल्यों की चर्चा की जाने लगी। यह आशा और विश्वास जगा कि ये मूल्य पूरी तरह सार्थक हो सकेंगे। परंतु जैसा कहा गया है, हमारा सारा मानवीय संस्कार द्वंद्वात्मक है और इस कारण हमारी हर संस्कृति का स्वरूप तथा मूल्यप्रक्रिया इस द्वंद्व से मुक्त नहीं हो पाती। यहां एक बात और है। मनुष्य की संस्कारगत प्रकृति इस द्वंद्व में इकाई, व्यक्ति और स्वार्थ की ओर अधिक उन्मुख है। परिणामतः किसी सामाजिक या सामूहिक या आध्यात्मिक नियंत्रण में ही मनुष्य इस प्रभावपक्ष से विपरीत हो पाता है। अर्थात सामान्य स्थिति में सत्याचरण, न्याय, धर्म और नैतिकता का पक्ष व्यक्ति किसी व्यवस्था या अनुशासन के अंतर्गत ही ग्रहण करता है। पर इस व्यवस्था को शक्ति जिन

स्रोतों से मिलती है, वे पुनः व्यवस्था को भ्रष्ट कर देते हैं। यही कारण है कि मध्ययुग में राज्य, धर्म और समाज की जितनी भी व्यवस्थाओं को स्वीकार किया गया, अंततः वे सत्य, धर्म और न्याय के नाम पर असत्य के आधार पर ही अपनी शक्ति और अपना अधिकार बनाए रखने की चेष्टा करती रही हैं।

आधुनिक युग में इस स्थिति के आधार पर इन सारी व्यवस्थाओं और प्रतिष्ठानों का घोर विरोध हुआ। इस विरोध की प्रक्रिया में मध्ययुग के अनेक मूल्यों को भी अस्वीकार कर दिया गया। नए मानवीय मूल्यों की परिकल्पना सामने आई। और इन नए मूल्यों को प्रतिष्ठित करने के लिए नए प्रतिष्ठानों और नई व्यवस्थाओं को विकसित किया गया। प्रारंभ में इन मूल्यों के प्रति हमारी आस्था रही है, और यह विश्वास लेकर हम चले थे कि इन व्यवस्थाओं के माध्यम से इन मूल्यों को उपार्जित करना संभव होगा। पर क्रमशः प्रजातांत्रिक हों या साम्यवादी, सभी व्यवस्थाएं जिन स्रोतों से अपनी शक्ति ग्रहण करती हैं, वे दूषित और भ्रष्ट होकर सारे तंत्र को विकृत कर देते हैं। आज के युग में स्वतंत्रता, समता, मुक्ति, व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा और सामाजिक मूल्यों की स्थिति विडंबनापूर्ण है। पिछले डेढ़-दो सौ वर्षों के प्रयत्न के बाद पश्चिमी सभ्यता के उन्नत राष्ट्रों का सामाजिक जीवन इसका प्रमाण है, एशिया और अफ्रीका के विकसनशील राष्ट्रों ने पश्चिम का अनुकरण करके क्या पाया है, यह भी स्पष्ट है। इस दृष्टि से प्रजातांत्रिक और साम्यवादी देशों में मौलिक अंतर नहीं है।

कहीं व्यक्तित्व की खोज में व्यक्ति अकेला पड़ गया है। कहीं सामाजिक समूह में मनुष्य नगण्य हो गया है। हर जगह तंत्र इतना प्रबल और हावी होता जा रहा है कि वह उन सारे मूल्यों को झुठला देता है जिनके लिए उसका विकास हुआ है। इन तंत्रों के अंतर्गत व्यक्ति इतना विवश और समाज इतना जड़ होता गया है कि व्यक्ति और समाज पर आश्रित समस्त मानवीय मूल्य झूठे पड़ गए हैं। इस जड़ता और विवशता में मूल्यों की रचनाधर्मिता संभव नहीं, अतः स्थापना और मान्यताओं के रूप में वे निरर्थक हो जाते हैं। पिछले महायुद्धों से बचकर पुनः अपने को विकसित करने वाले पश्चिम के राष्ट्र और औपनिवेशिक पराधीनता से मुक्त होने वाले एशिया, अफ्रीका और लतीनी अमरीका के राष्ट्र पश्चिम की सांस्कृतिक विभीषिका से गुजर रहे हैं। एक ओर विज्ञान और प्रविधि ने सारी अर्थव्यवस्था को यांत्रिक और स्वतःचालित बना दिया है, दूसरी ओर अर्थव्यवस्था का यह रूप व्यक्ति और समाज के सारे संबंधों को जड़ और निरपेक्ष बना रहा है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति और समाज पर आश्रित समस्त मानवीय मूल्यों का निरर्थक हो जाना सहज है। मूल्यों की संक्रांति, उनके विघटन और अनास्था आदि की चर्चा इसी संदर्भ में की जाती रही है।

इस सांस्कृतिक विशृंखलता, विघटन और विडंबना के युग में मानवीय जीवन

द्वंद्वात्मक मूल्यों, अनुभवों और भाषा से भी अलग पड़ता गया है। वह एक युग में जिस प्रकार धर्म और अधर्म, न्याय और अन्याय, सत्य और असत्य में विभेद मान कर चल लेता था, उसी प्रकार आधुनिक युग में मुक्ति और बंधन, समानता और असमानता, वैयक्तिकता और निर्वैयक्तिकता, सामाजिकता और असामाजिकता जैसे मूल्यों के संदर्भ को ग्रहण करता रहा है। पर वर्तमान स्थिति में यह संभव नहीं है। आज जब हम कहते हैं कि ये मूल्य विघटित हो चुके हैं, हमारा मतलब है कि इनको जीवन के अनुभव में उतारा नहीं जा सकता है। वस्तुस्थिति है कि हमारे अनुभव की प्रक्रिया में अंतर आ गया है। इस क्षण हमारे लिए कहना कठिन है कि अमुक व्यक्ति के प्रति हमारे मन में प्रेम है या घृणा, ईर्ष्या है या सहानुभूति, प्रतिस्पर्द्धा है या सहयोग, व्यक्ति विशेष से हम प्रसन्न हैं या अप्रसन्न, मित्रभाव रखते हैं या शत्रुभाव, निकटता चाहते हैं या दूरी। इतना ही नहीं आज हमारा अनुभव समतलीय नहीं है। हम अनुभव के कई स्तरों पर जीने के लिए विवश हैं। एक ओर व्यक्ति और समाज के संबंधों में जटिलता आती गई है, दूसरी ओर औद्योगिक तथा प्राविधिक विकास के साथ इनमें तटस्थता के कारण परिप्रेक्ष्य का अंतर भी घटित हुआ है।

निश्चय ही इस विशेष परिस्थित में विज्ञान की नई दृष्टि का भी प्रभाव माना जा सकता है। विज्ञान ने निश्चयात्मक से सापेक्ष स्थिति स्वीकार कर ली है। हमारा ज्ञान निश्चयात्मक कार्य-कारण पर अवस्थित न होकर वस्तुओं की सापेक्ष स्थिति से निर्मित है। अनुभव के बीच में इसी प्रकार कार्य-कारण के अनुक्रम के स्थान पर सापेक्ष अनुक्रमों की अनेक संभावनाएं उपस्थित हो गई हैं। हर युग में प्रत्येक क्षेत्र के मूल्य अनुभवों की विशिष्टता, संपन्नता और रचनाशीलता से उपार्जित होते आए हैं। अतः आज मूल्यों के विघटन का अर्थ मात्र मूल्यहीनता के रूप नहीं ग्रहण किया जाता। मूल्य जीवन और अनुभव की तार्किक संगति के रूप में स्वीकार किए जाते हैं। यह संगति जीवन के जिस क्षेत्र से संबंध रखती है, उसी से मूल्य विकसित होता है। जहां यह संगति खंडित होती है, अर्थात जहां असंगति है, वहां मूल्य विघटित होगा, उसकी अवहेलना होगी। इस असंगति की स्थिति में मूल्यहीनता का जीवन होता है। पर यह मूल्यों का अभाव नहीं है, यहां मूल्यों की अस्वीकृति अथवा उनसे विरोध होता है।

यह स्थिति द्वंद्व से परे नहीं है। जब हम कहते हैं, समाज में मूल्यहीनता है, हमारा अर्थ होता है कि समाज प्रचलित मूल्यों को स्वीकार नहीं करता और उनके विपरीत चलता है। समाज में धर्म, सत्य और न्याय का विरोध है और अन्याय, असत्य और अधर्म का प्रचलन है। व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा नहीं है, सामाजिक न्याय नहीं है, समानता नहीं है, इनके स्थान पर कुंठा, असमानता और बंधन हैं। हम इस प्रकार कह सकते हैं कि समाज में नैतिक जीवन के स्थान पर

अनैतिक जीवन को मान्यता मिल जाती है। परंतु आधुनिक जीवन में नैतिक और अनैतिक के बीच विभेद मानकर इस प्रकार चलना संभव नहीं है। अनुभव और ज्ञान के समान आज मूल्यों की स्थिति भी है। मूल्यों का स्वरूप भी समतलीय नहीं रह गया है। अपनी सापेक्ष स्थिति में मूल्य कई स्तरों और आयामों में घटित होता है। अत: उसकी स्थिति को संगति और असंगति से परे मानना होगा। अपनी इस द्वंद्वातीत स्थिति में मूल्य विसंगत होगा। यहां मूल्य स्वत: परंपरित मूल्यों के द्वंद्व में नहीं आता, अर्थात न यहां स्वीकृतिमूलक मूल्य हैं और न ही निषेधमूल्य ही। इसे मूल्यों से परे की स्थिति भी माना जा सकता है। यह स्थिति मूल्यहीनता नहीं, वरन मूल्यविहीनता की है। और यह व्यक्ति और समाज के संबंधों की तार्किक संगति की स्थिति भी नहीं है। यहां संबंध और उनके अनुभव तर्कातीत हो जाते हैं, अर्थात उन्हें विसंगत कहा जा सकता है।

आज की सामाजिक और मानवीय परिस्थिति का विश्लेषण करने से जान पड़ता है कि इस आधुनिक परिस्थिति में पिछले सभी युगों से अंतर है। मूल्यों की उद्भावना और उनके उपार्जन की दृष्टि से पिछले युगों में एक क्रम देखा गया है। युग के संदर्भों में मानवीय परिस्थितियां बदलती हैं। इनके साथ पिछले प्रतिष्ठित और स्थापित मूल्य जड़ और कुंठित होते जाते हैं, अंतत: उनका विरोध होता है। स्थापित मूल्य जड़ होने की प्रक्रिया में मूल्यहीनता की स्थिति भी उत्पन्न कर देते हैं। मूल्यों के नाम पर जीवन में उनका निषेध ही दिखाई देता है, न्याय के नाम पर अन्याय, सत्य के नाम पर असत्य, अहिंसा के नाम पर हिंसा, समता के नाम पर असमता का प्रचलन समाज में देखा जाता है। परंतु इस निषेध की स्थिति से विरोध का जन्म होता है, और तब जड़ मूल्यों की अस्वीकृति होती है और उनके स्थान पर युग की परिस्थिति के अनुकूल नए मूल्यों की उद्भावना होती है। मूल्यों की यह स्थिति सामाजिक जीवन से लेकर धर्म, दर्शन, कला और साहित्य सभी क्षेत्रों में समान रूप से पाई जाती है।

मूल्यों के अस्वीकार का मतलब है कि अनुभव-संदर्भ बदल जाते हैं। उनकी तार्किक संगतियों का स्वरूप बदल जाता है। एक संदर्भ से दूसरे, एक प्रकार की संगति से दूसरी प्रकार की संगति को ग्रहण करने के बीच में असंगति अर्थात मूल्य-हीनता की स्थिति से भी गुजरना पड़ता है। इस अनुभव के बदले हुए संदर्भ में भाषा भी अर्थ से अर्थहीनता की ओर बढ़ती जाती है। उसके शब्द अपना अर्थ त्याग करते हैं, उसका स्वरूप परंपरित अर्थ को व्यक्त करते करते अनुभव तथा मूल्य से संपृक्त अर्थव्यंजना देने में असमर्थ हो जाता है। पुन: नई तर्कसंगतियों के साथ भाषा अर्थ ग्रहण करती है। अनुभव के नए अर्थ-संदर्भों के साथ भाषा नई व्यंजनाशक्ति विकसित करती है। और साहित्य की नई भाषिक संरचना इन नए अनुभवों, नए मूल्यों को संप्रेषित करती है। मानवीय अनुभव, संस्कार और भाषा

परिवर्तित संदर्भों और संगतियों में बदल जाते हैं, उनका नया रूप विकसित होता है, पर परंपरा की धारावाहिकता में वे क्रम में जुड़े भी रहते हैं। अतः उनमें युगों की पहचान के साथ युगों के अतिक्रमण की क्षमता भी सुरक्षित रहती है। एक युग का अनुभव, उसका संस्कार, उसके मूल्य और उसकी भाषिक अभिव्यक्ति युग-सापेक्षता में विशेष होते हैं, परंतु आनेवाले युगों में उनको समझना, ग्रहण कर पाना और एक स्तर पर उनसे जुड़ना संभव है। मानवीय अनुभव और भाषा दोनों इन भिन्न स्तरों पर अनुभूत और अभिव्यक्त होते हैं।

भाषा और अनुभव की यह प्रक्रिया आज के मूल्यसंदर्भ में बदल गई है। संगति और असंगति की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया के स्थान पर आज विसंगति की द्वंद्वातीत प्रक्रिया गतिशील है। आधुनिक युग में मनुष्य अत्यधिक आत्मचेतन और आत्मालोचक हो गया है, उसके ज्ञान और अनुभव की दिशाएं और संभावनाएं बहुत अधिक बढ़ गई हैं। उसने अनुभव किया कि मूल्य के क्षेत्र में वह सदा विरोधों के बीच सामंजस्य ढूंढ़ता है, मूल्य के उपक्रम में मूल्यहीनता का शिकार हो जाता है। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक मूल्य हों या धार्मिक, आध्यात्मिक या कलात्मक मूल्य हों, सर्वत्र इन मूल्यों को संयोजित, विकसित और उपार्जित करने वाली व्यवस्थाएं, संस्थाएं या परिपाटियां अधिकाधिक महत्वपूर्ण हो जाती हैं। इस प्रकार मूल्य गौण हो जाते हैं, स्थापनाएं और मान्यताएं प्रमुख हो जाती हैं। आगे चलकर हर क्षेत्र में मूल्यहीनता व्याप्त हो जाती है। आधुनिक युग में इस बात का एहसास अधिक स्पष्ट होता गया है। अतः क्रमशः एक नई दृष्टि का विकास हुआ कि इस प्रकार के मूल्य-संदर्भों से मुक्त हो जाना। हर नैतिक दृष्टि अनैतिकता से जुड़ जाती है, हर मूल्य मूल्यहीनता से संबद्ध हो गया है। इस प्रकार सारे अर्थ अर्थहीन हो जाते हैं। इसका मूल कारण है कि हमारे समझने, अनुभव करने और अभिव्यक्ति के रूप-विधान में संगति का आधार लिया जाता रहा है। संगति के साथ असंगति जुड़ी हुई है, अतः हर स्थिति का द्वंद्व, हर अनुभव का विरोध और हर मूल्य का निषेध उसकी मौलिक प्रकृति में सुरक्षित है। अतः आधुनिक दृष्टि इन संदर्भों से मुक्त होने के लिए इस मौलिक प्रकृति का अतिक्रमण करना चाहती है।

एक स्तर पर यह अवश्य लगता है कि आज की मूल्यहीनता, अनास्था, उसके विघटन, उसकी संक्रांति को भाषा की प्रचलित संगति में बांध पाना संभव नहीं रह गया है। आज का अकेलापन, निषेध और अस्वीकार, आज की मूल्यहीनता और अर्थहीनता ने इस प्रकार की अनिश्चय की स्थिति उत्पन्न कर दी है जिसमें किसी नई सार्थकता, अर्थवत्ता और मूल्योपलब्धि की संभावना नहीं रह गई है। और यह स्थिति अपने आप में अनैतिकता, मूल्यविहीनता और अर्थहीनता (मूल्योपरि के रूप में) मानी जा सकती है। इस स्थिति में एक विसंगति है और साहित्य में इसकी अभिव्यक्ति का एक विशेष स्वरूप सामने आया है, इसमें भाषा और अनुभव दोनों

की विसंगति एक साथ स्वीकृत है। प्रायः मान लिया जाता है कि जीवन की यह विसंगति भाषा और उसकी अभिव्यक्ति की विसंगति में प्रतिफलित है।

परंतु ऊपर के विश्लेषण से यह स्पष्ट हुआ है कि अनुभव या भाषा की विवशता नहीं है, यह केवल स्वीकारमूलक कुछ न पा सकने की विवशता की अभिव्यक्ति नहीं है। यह मूल्य मात्र के अभाव की स्थिति नहीं है। आधुनिक युग में परंपरित अनुभव, संस्कार और भाषा के द्वंद्व से मुक्त होने का यह जागरूक प्रयत्न है। आज हम अनुभव की पूर्णता को उसके अनेक स्तरों और बहु आयामों में ग्रहण करने की चेष्टा कर रहे हैं। यह अनुभव की विशिष्टता हमको द्वंद्वों के परे ले जाती है। यहां अनुभव सापेक्षताओं में संपन्न हो जाता है। यहां विसंगति की स्थिति में हम अनुभव को परंपरित क्रमों-अनुक्रमों में नहीं बांध पाते तो स्वाभाविक है।

ऊपर से लग सकता है कि आज मूल्यों का जीवन संभव नहीं है, मूल्यहीनता कोई विरोध की भूमिका नहीं प्रस्तुत कर पाती है। मूल्यहीनता, अनैतिकता, अर्थ-हीनता आज जैसे जीवन में स्थाई हो गए हैं। उनसे कोई नई दृष्टि नहीं ग्रहण की जा रही है, उनसे कोई नई भूमिका नहीं तैयार हो पा रही है। अतः आज की विवशता मूल्यविहीनता को जन्म देती है, हम विवश और निराश होकर मूल्यों से असंपृक्त और तटस्थ हो चुके हैं। हम असंगतियों से ऊब कर सारी संगतियों के प्रति तटस्थ हो चुके हैं। पर यह ऐसा एक पक्ष मात्र है। वस्तुतः मूल्यविहीनता मात्र निषेध का दर्शन नहीं है। यह विवशता या निराशा की स्थिति मात्र भी नहीं है। यह विधेयात्मक भी है, जैसा कहा गया है, यह मूल्यों के क्षेत्र में ऐसे अनुभव के स्तर और आयाम की खोज की ओर उन्मुख दृष्टि है जो मूल्यों को द्वंद्वातीत स्तर पर स्वीकार करती है। मूल्यों की यह विसंगति पिछली संगतियों से उन्हें मुक्त करने का उपक्रम है।

हमारी भाषा विसंगति के उपर्युक्त दोनों स्तरों को व्यंजित करती है। यों कह सकते हैं कि हमारी भाषा की विसंगति को लेकर इसी प्रकार दुहरी समस्या है। शब्दों ने अर्थ खो दिए हैं, भाषा की अर्थक्षमता लुप्त हो गई है। ये कथन अनु-भव-संदर्भों से जुड़े हुए हैं। जिस सीमा तक हम निरर्थक जिंदगी जीते हैं, हम मूल्यों को जी पाने में असमर्थ हो चुके हैं, या मूल्य हमारे लिए असंगत हो चुके हैं, हमारी भाषा इन विसंगतियों की सर्जना करती है। यह भाषा एक विवशता, एकरसता, निरंतरता के बोझ को व्यक्त करती है। परंतु दूसरे स्तर पर भाषा में विसंगति इस प्रकार के सारे द्वंद्वात्मक अनुभवों और मूल्यों का अतिक्रमण करती है। यह विसंगति का उपयोग अनुभव की सीमा, विवशता, समरसता को व्यक्त न कर उसकी नई संभावनाओं को उद्‌घाटित करता है। भाषा की विसंगति अनुभव और मूल्यों के नए स्तरों, आयामों और नई संगतियों को व्यंजित करती है। अतः साहित्य में विसंगति के प्रयोग को इस दृष्टि से देखने की अपेक्षा है।

लोक साहित्य

प्रकृति, परिकल्पना और लोकगीत

मानव के सौंदर्यबोध के विकास में प्रकृति की विभिन्न परिकल्पनाओं का योग रहा है, और इस दृष्टि से काव्य के संस्कार में प्रकृति का गहरा स्थान माना जाएगा। प्रकृति के रंग-रूपों, आकार-प्रकारों की विचित्रता, विविधता, विराटता, निर्जनता, भयानकता, रहस्यमयता और इसके साथ उसकी कोमल शांति, उल्लास, आनंद आदि ने मनुष्य के मानसिक विकास को प्रेरित और संघटित किया है, और इसी आधार पर कवि और कलाकार प्रकृति की परिकल्पनाओं का आश्रय अपनी कलाकृति के सौंदर्यसर्जन में लेता है। परंतु लोकगीत लोकमानस की अभिव्यक्ति के रूप में साहित्य की मौलिक प्रवृत्ति से अलग पड़ते हैं। साहित्य सर्जन है, लोकसाहित्य अपने अभिव्यक्त रूप में भी जीवन की प्रक्रिया का अभिन्न अंग है। इस दृष्टि से लोकगीतों में कवि के सौंदर्यबोध के स्थान पर जीवनबोध प्रधान है, और उसमें सौंदर्य की परिकल्पना उसी सीमा तक आती है जिस सीमा तक वह जीवन की प्रक्रिया का भी अंग है। यही कारण है कि लोकगीतों में प्रकृति की प्रमुख दृष्टि सौंदर्यबोध की न होकर लोकजीवन में उसकी स्थिति से संबंधित है।

समग्र लोकसाहित्य लोकजीवन के जीने की प्रक्रिया का अंग होकर गतिशील होता है, इस कारण उसमें वस्तु, स्थिति, परिस्थिति, पात्र, चरित्र, मनोभाव, तथा संवेदनाएं जीवन के सीधे संदर्भ में उपस्थित होती हैं। इसमें साहित्य के अभिव्यक्तिपरक साधारणीकरण के स्थान पर लोकमानस के स्तर पर जीवन का साधारणीकृत रूप प्रतिघटित होता है। अतः लोकगीतों में रसनिष्पत्ति की आनंदपरक (सौंदर्यानुभूति) स्थिति के स्थान पर मन की भावावेगपूर्ण सहज भावस्थिति का रूप रहता है। लोकगीतों की प्रकृति किसी रस की भूमिका में न आलंबन है, न उद्दीपन, न उसके मानवीकरण की आवश्यकता है, न मानवीय भावारोप की (उल्लास, आशा, निराशा आदि की मनःस्थिति में), न वह मानव सहचरी के रूप में अंकित होती है और न कवि को जीवन की अनंत प्रेरणा देनेवाली शक्ति के रूप में। यहां प्रकृति उसी सीमा तक आती है, जहां तक वह लोकजीवन का अंग है।

लोकजीवन प्रकृति के संपर्क में प्रवाहित है। उसमें नागरिक कृत्रिमताएं अधिक विकसित नहीं हुई हैं, इस कारण उसका प्रकृति से परिचय धूमिल नहीं पड़ा है। वरन यह संपर्क और परिचय इतना घनिष्ठ है कि प्रकृति के किसी उपकरण अथवा परिस्थिति का उल्लेख करते ही लोकगायक के सामने स्वतः प्रकृति के उस दृश्य की सारी रूपमयता, समस्त वातावरण और संदर्भ व्यंजित हो जाते हैं। वातावरण की सृष्टि के लिए उसे संपूर्ण रेखाओं को व्यक्त रूप देने अथवा संश्लिष्ट

ढंग से रंगों को भरने की आवश्यकता नहीं होती। इसका एक महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि लोकगायक की जीवनप्रक्रिया में उसका गीत और प्रकृति दोनों एक साथ उसके अंग के रूप में उपस्थित होते हैं। प्रकृति उसके सामने प्रत्यक्ष है, फिर अपने गीतों में वह केवल संकेतों का आधार भर ग्रहण करता है। यही कारण है कि लोकगीतों में प्रकृति का सांकेतिक चित्रण भर मिलता है, चाहे पृष्ठभूमि के रूप में उसका प्रयोग किया गया हो अथवा वातावरण निर्माण के लिए, चाहे भावात्मक व्यंजना की सृष्टि से हो अथवा सहचरण भावना की दृष्टि से। वस्तुत: प्रयोग के रूप में लोकसाहित्य में प्रकृति की परिकल्पना का प्रश्न नहीं उठता। यहां प्रकृति जीवन-स्तर पर ही उपस्थित है, अतएव वह प्रत्यक्ष पृष्ठभूमि है, वातावरण है, साक्षात भावानुप्रेरित और सहचरी है। ऐसी स्थिति में उसके सांगोपांग, संश्लिष्ट अथवा काव्यात्मक दृष्टि से व्यंजक चित्रण की अपेक्षा ही नहीं है। लोकगायक तथा लोकमानस यह सब जीवन के प्रत्यक्ष संदर्भ में स्वत: ग्रहण कर लेता है।

जिस प्रकार पर्वतीय लोकगीतों में चोटियों, घाटियों और उनमें खिलनेवाले फूलों का संकेत संपूर्ण पृष्ठभूमि और वातावरण को प्रस्तुत करने में सहायक होता है और मरुप्रदेशीय लोकगीतो में टीलों, रेतीले प्रदेश, करील, बबूल, खेभ्भण आदि के संकेत से यह कार्य संपादित होता है, मैदान के लोकगीतों में वही कार्य वन, उपवन तथा विविध वृक्षों के संकेत करते हैं। मैदान की प्रकृति नागरिक संस्कृति के विकास के साथ संकुचित होती गई है। खेती के विस्तार के साथ वनों का विस्तार समाप्तप्राय है। फिर भी लोकगीतों में वनों की स्मृति रक्षित है। वनों तथा उपवनों के सांकेतिक उल्लेख या तो किसी कथा, घटना अथवा स्थिति की पृष्ठभूमि के रूप में हुए हैं अथवा किसी परिस्थिति के वातावरण निर्माण के लिए हुए हैं।[1]

कभी संकेतचित्रों में प्रसंग के अनुसार वातावरण प्रस्तुत करने में व्यंजना भी सन्निहित हो जाती है। पहली परिकल्पना से प्रस्तुत प्रकृतिचित्र में किंचित ही अंतर है। प्रथम संकेतचित्र बहुत कुछ कथाप्रसंग से निरपेक्ष पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं, पर कभी कथा से संपृक्त जान पड़ती है,[2] कभी रहस्यमयी आध्यात्मिक व्यंजना रहती है[3] और कभी लोकगायक वातावरण में भावना के अनुकूल पृष्ठभूमि व्यंजित करता है।[4]

मैदान के जीवन में नदियों का बहुत आर्कषण है। इन नदियों के सहज आकर्षण के कारण लोकमानस में इनके प्रति पवित्रता की भावना का विकास हुआ है। विशेष पर्वों पर विभिन्न नदियों में स्नान करने का महत्व है। लोकगीतों में नदियों के तट जीवन की विविध स्थितियों और भावनाओं से संवेदित हैं। कभी वंध्या नारी की वेदना और करुणा की व्यंजना निहित होती है।[5] किंचित संकेतों से लोकगीतों की व्यंजना मार्मिक हो उठती है, क्योंकि उसको जीवन के यथार्थ संदर्भ में

लिया जाना संगत है, ऐसा मैं मानता हूं।

मैदान के जीवन में खेती के प्रसार के साथ वन समाप्त होते जा रहे हैं और अब वृक्षों का संपर्क महत्वपूर्ण भूमिका और वातावरण प्रस्तुत करता है। इन वृक्षों में आम, जामुन, इमली, पाकड़, महुआ, बांस, ढाक, नारंगी, चंपा, तुलसी का स्थल स्थल पर उल्लेख है। चंदन आदर्श कल्पना के रूप में इन वृक्षों के साथ स्थान स्थान पर प्रस्तुत हो जाता है। ये वृक्ष लोकजीवन को वस्तुपरक आधार देने की अपेक्षा उसके स्पंदन और स्फुरण के अधिक निकट हैं। ये उसी के साथ उगते हैं, बढ़ते हैं, गहगहाते हैं और सूख भी जाते हैं। ये इस प्रकार लोकजीवन की भावना में सजीव हैं। इनके साथ लोकगायिका निकटता का अनुभव करती है। अनेक बार इनके विकास के साथ लोकजीवन की परिस्थितियां और भावनाएं जुड़ी रहती हैं।[6] भावसंयोग के माध्यम से ये वृक्ष कहीं कहीं गहन भावव्यंजना की पृष्ठभूमि के समान अंकित हैं :

आम महुअवा के घनी रे बगिया
ताहि बिचे राह लागि गइलें हो राम।

यहां इस आम महुआ के घने वृक्षों के बीच से चले गए रास्ते की भावना उनके नीचे विदेशी पति की प्रतीक्षा में खड़ी हुई सोहागिन नारी के ढरते हुए आंसुओं की पृष्ठ-भूमि में ग्रहण की जा सकती है।[7] वृक्षों के साथ विभिन्न भावों का संयोग रहता है। आम-महुआ के साथ भावोद्वेलन का संबंध है, पर इमली की सघनता सुस्थिरता का प्रतीक मानी जा सकती है। पाकड़ का पेड़ अपने ठूंठ रूप में स्थितिविशेष में जीवन के प्रत्यक्ष स्तर पर अधिक सजीव आधार बन सका है।[8] इसी प्रकार शिरीष वृक्ष की कल्पना वंध्या नारी-क्लेश की पृष्ठभूमि है। वास्तव में शिरीष के पुष्प की कोमलता और सौंदर्य साहित्य में प्रतिष्ठित है, पर लोकगीत में उसके पेड़ की विषण्णता को स्वीकार किया गया है। उसकी सूखी फलियां सूखे पत्तों के साथ ऐसी ही हहर-झहर करती हैं।[9] उनके साथ ढाक वृक्ष को भी लिया जा सकता है। यह बहुत सम्मानित पेड़ नहीं है और लोकसाहित्य की करुण भावना की भूमिका में ही इसका अंकन हुआ है।[10] पूरब में बांस बहुत होता है। इस गीत में उसका सजीव चित्र है :

मोरे पिछवरवां घनी रे बंसवरिया,
बिन पुरुआ घहराई।

परंतु यह बिना पुरवा के निनादित बांस का झुरमुट बाल-पतिवाली युवती की पायजेब की समकक्षता में प्रस्तुत है, क्योंकि उसका पति भीरु है। पर यहां 'बंस-वरिया' की घहराहट में युवती की भावना व्यंजित है।[11] सौभाग्यसूचक अथवा पुण्य अवसर के वातावरण के लिए चंदन, चंपा तथा तुलसी जैसे वृक्षों के संकेतचित्र मिलते हैं। इनमें चंदन आदर्श कल्पना है, क्योंकि चंदन के वृक्ष इस क्षेत्र में नहीं

होते। नदी के तट पर कदंब का उल्लेख और उस पर चढ़कर कृष्ण के वंशी बजाने का प्रसंग पच्छिम के (ब्रज-क्षेत्र के विशेष रूप से) लोक गीतों में पाया जाता है। पूरबी गीतों में यह कदंब कभी चंदन हो जाता है।[12]

लोकजीवन में तालाबों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है, ज्यों ज्यों पूरब की ओर बढ़ें तालाबों की संख्या अधिक होती जाती है। वर्षा के समय ये अधिक भरे-गहरे होकर लहराने लगते हैं और लोकमन को उल्लसित करते हैं। तालाब से चकवा का भी संबंध है।[13] घर के पीछे अथवा गांव में लहराते हुए तालों की कल्पना अधिक प्रत्यक्ष है। युवती कन्या अपने वर को अपने घर के पीछे के ताल पर देखती है और यह ताल उसके यौवन के समान लहराता है :

मोर पिछवरवां रे तालाब्र बहुत बा,
पुरइन मारेले हिलोर ए।
ताहि पइसि कवन दुलहा सुनारा रे,
धोतिया कचारेले, पूछेली कवन सुहवा बात ए ॥[14]

अपनी यौवन की उमंग में जैसे उसमें प्रिय की कामना जागती है। इसी के दूसरे रूप में बाबा के ताल में 'पुरइन हालर' दे रही है।[15]

काल के विविध रूप तथा ऋतुपरिवर्तन के संकेतमात्र लोकगीतों में मिलते हैं। लोकजीवन काल और ऋतुओं के साथ अपने सारे क्रम को परिचालित और भावनाओं को स्पंदित पाता है। वे उसके साथ अभिन्न हो गई हैं, इसी कारण उसके संकेतमात्र से इस जीवन की भूमिका प्रस्तुत हो जाती है। चिड़िया बोलने से प्रातः की भूमिका हो जाती है, रात की घनी अंधेरिया के उल्लेख से सावन-भादों के मेघाच्छादित आकाश की कल्पना सन्निहित हो जाती है, गरमी और तपन के माध्यम से जेठ की पृष्ठभूमि प्रस्तुत हो जाती है और वन में मोर का कूंजन तथा आम की शाखा पर कोयल की कूक से वसंत का वातावरण उपस्थित हो जाता है।[16] इस प्रदेश में वर्षा और वसंत दो ऋतुएं अधिक आकर्षक हैं, इनमें भी वर्षा भावमय पृष्ठभूमि के रूप में अधिक उपस्थित होती है और वसंत भावोद्वेग के उद्दीपन रूप में अधिक प्रस्तुत होता है।[17] इस प्रकार के प्रकृति-संकेत प्रत्यक्ष भाव की पीठिका, भूमिका या वातावरण प्रस्तुत करते हैं। कहीं भावज ननद से सावन मास में घिरे हुए बादलों को देखकर कहती है—'कजली खेलने कैसे जाऊं', कहीं कोई प्रोषितपतिका सावन मास की वर्षा की झड़ी लगी देखकर नदी तीर पर बछड़ों को चराने वाले देवर की सुधि करती है और कहीं पुत्रवती पूर्वी हवा की सुहावनी लहरों का अनुभव करती हुई उल्लसित होकर अपने शिशु की क्रीड़ाओं की कल्पना करती है।[18]

अभी तक प्रकृति की विविध परिकल्पनाओं का पृष्ठभूमि और व्यापक वातावरण

के रूप में विवेचन किया गया है। यद्यपि इस प्रकार के प्रकृति के प्रकृतिसंकेतों और चित्रों में अनेक बार कोई न कोई व्यंजना सन्निहित हो गई है। पर जीवन से अभिन्न होकर प्रस्तुत होने के कारण प्रकृति के विविध उपकरणों, पात्रों, स्थितियों और दृश्यों में मानवीय जीवन और भावना की प्रत्यक्ष व्यंजना अधिक मार्मिक रीति से सन्निहित हुई हैं। प्रकृति के कुछ रूपों में प्रसंग की व्यंजना अंतर्निहित रहती है।[19] कभी प्रकृति के दृश्यविधान के माध्यम से जीवन के व्यापक अर्थ की व्यंजना हुई है: आम की डाल पर कोयल बोलती है और वट की डाल पर सुग्गा बोलता है। पर आम मुरझा गया, सेमर उकठ गया और वट की डाल भी सूख गई।[20] इस प्रकृति के परिवर्तन में जीवन की नश्वरता की व्यंजना है। कभी किसी निश्चित भाव की व्यंजना प्रकृति के संकेत चित्र में निहित रहती है 'नदी बहुत गहरी है उसमें अथाह जल प्रवाहित है, पिया परदेश को चले और मेरी छाती विदीर्ण होती है। दह में चकवा-चकवी रोते हैं।[21] इस चित्र में विरहिणी के मन का उद्वेलन इस प्रकार व्यक्त किया गया है। वातावरण की समता के आधार पर भाव-स्थिति का संकेत निहित रहता है।[22]

प्रकृति के संकेतचित्रों में जो दृश्यविधान अथवा वातावरण कुछ प्रतीकों के आश्रय पर प्रस्तुत होता है, उसमें भी भावव्यंजना सन्निहित रहती है। कुछ वृक्ष, फल तथा पक्षी आदि लोकसाहित्य के स्वीकृत और व्यापक प्रतीक हैं, जिनकी चर्चा अन्यत्र की जाएगी। यहां वातावरण और व्यंजना के लिए जहां प्रतीकों को भी सम्मिलित कर लिया गया है, उनसे तात्पर्य है। इनमें प्रायः कोई भी जीवन की व्यापक परिस्थिति अथवा कोई विशिष्ट भावस्थिति व्यंजित होती है: 'प्रिय क्या तुम आम पर लुभा गए हो, या बाट ही भूल गए हो? हे मेरी प्रिय रानी, मैं न आम पर लुभाया हूं और न बाट भूला हूं। मेरे बाबा के बाग में एक कोयल बोल रही है। मैं उसकी बोली सुन रहा हूं।[23] यहां 'आम' तथा 'कोयल' का प्रतीकात्मक प्रयोग है जो इस वातावरण में एक भावस्थिति सन्निहित कर देता है कि नायक किसी अन्य नायिका पर मुग्ध है। इनमें सारी प्रकृतियोजना अप्रस्तुतविधान के रूप में भी मानी जा सकती है, पर लोकसाहित्य में जीवन की सन्निकटता के कारण यह प्रतीकात्मक चित्र है जिसमें आगे का पारिवारिक प्रसंग व्यंजित हो गया है। तालाब, बाग और फुलवारी कमल, कोयल और भौंरा के बिना सूने हैं, पर इसी तरह परिवार बिना कन्या (ननद) के सूना है।[24] एक गीत में एक स्त्री स्वप्न में अनेक प्रकृति के प्रतीकों को दृश्य रूप में देखती है जिनकी व्याख्या धन-संतति आदि के अर्थ में की गई है।[25]

अभी तक प्रतीकों की चर्चा सामान्य अर्थ में की गई है। इस रूप में बहुत कुछ ये अप्रस्तुतों अथवा उपमानों के समान हैं जिनका सांकेतिक रूप से प्रयोग किया गया

है। लोक जीवन से अभिन्न प्रकृति अपने इस अप्रस्तुत विधान में नितांत प्रत्यक्ष, प्रस्तुत और सजीव है तथा उसके साथ जीवन भी अपनी विभिन्न स्थितियों में अंकित हुआ है। दोनों रूप इस प्रकार एक साथ प्रस्तुत होकर अपनी आत्मीय निकटता के कारण समान सत्य और भावना की व्यंजना करते हैं। परंतु इस प्रकार के प्रयोगों के साथ लोकसाहित्य में जीवनस्तर पर ही प्रकृति के कुछ उपकरणों को मान्य अथवा विशिष्ट प्रतीकों के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। ये प्रतीक प्राय: अपने व्यापक संदर्भ के साथ एक ही व्यंजना सदा देते हैं।

भौंरा रसिक प्रेमी के रूप में लिया गया है जो दूसरी स्त्रियों में अनुरक्त है। यह भौंरा अपने पिता के वन में फूली हुई सुपारी और भइया के वन में फले हुए नारियल को चुनने का बहाना करनेवाली युवती का आंचल पकड़ता है।[26] नारंगी का प्रतीक सदा नारी यौवन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उसके मूल में स्तनों के उपमान होने की भावना निहित है।[27] इस प्रश्न में निहित नारंगी कन्या के युवती होने की व्यंजना के लिए है :

के मारे नौरंगिया लगावे तो थल्हवा बन्हावै।
के रे नौरंगी रखवार त के मोरे चोरी करे।।[28]

चंपा का फूल भी यौवन (युवती नारी) का प्रतीक है, पर इस प्रसंग में संयम की अपेक्षा उच्छृंखलता अधिक है।[29] कुआं और डोरी संभोगसुख के लिए प्रयुक्त प्रतीक हैं।

पातर डोरी कुइयां ए बालम, रेसम लागलि डोर।
एकइ फूलवा फूले ए बालम, देंहिया रे घहराइ।।[30]

फूल उसकी उपलब्धि संतान की संभावना के रूप में इस प्रतीक को अधिक व्यक्त कर देता है। सुआ पति है, पर परदेश जाने का संकल्प करने वाला।[31] वैसे प्रिय के सामान्य अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। फल न देनेवाली सोने जैसी लता वंध्या का प्रतीक है। इसमें, लता स्त्री के लिए सामान्य उपमान के रूप में भी मानी जा सकती थी, पर यहां लता अपने व्यक्तित्व के साथ उपस्थित है।[32]

जंभीरी नीबू लोक कल्पना में वीर्यवान यौवन का प्रतीक हो गया है। प्रसूता युवती अपने ससुर के द्वार पर लहराते और महर महर महकते हुए जंभीरी नीबू के वृक्ष के नीचे भीगने की बात कहती है, जिसका भाव है कि वह संतानवती होकर अपने प्रिय के संभोगसुख की स्मृति से आर्द्र हो रही है।[33] कोयल प्रेमी और विरहिणी नारी के रूप में प्रस्तुत हुई है, पर कभी कभी उसको अपना घर त्याग कर पति के घर चली जानेवाली विवाहित कन्या के रूप में चित्रित किया गया है।[34]

लोकगीतों में व्यापक रूप से प्रकृति जीवन की सघन संपृक्ति में उपस्थित रहती है। वास्तव में जिस प्रकार वह अप्रस्तुत विधान अथवा सौंदर्यबोध के स्तर पर साहित्य

में अंकित अथवा व्यंजित होती है, लोकसाहित्य के प्रत्यक्ष जीवन के स्तर पर उनकी स्थिति स्वीकृत नहीं हो सकती। इसी कारण प्रकृति से संबंधित सहचरण की भावना बहुत ही यथार्थ और सक्रिय रूप में इन गीतों में पाई जाती है। एक विरहिणी अपने पति द्वारा खिलौना रूप में दिए गए सुआ को बड़े प्रेम से रखती है और वक्ष में छिपाकर सोती है; फिर वह संदेश लेकर पति के पास भी जाता है।[35] इन गीतों की भावना में पक्षी बिलकुल आत्मीय जन की भांति संदेश, निमंत्रण तथा पत्रिका आदि ले जाने और समाचार लाने का कार्य संपादित करते हैं। कभी कोयल से घर के विवाह के अवसर पर संबंधियों को न्योतने के लिए प्रार्थना की जाती है। इस आह्वान में कोयल के प्रति जो स्नेह और सम्मान व्यक्त किया गया है, वह कालिदास के 'मेघदूत' का स्मरण दिलाता है।

अरी डारी काली कोइलि तोर जतिया भिहावन रे।
कोइलरि बोलिया बोलउ अनमोल त सब मोहै रे॥

लोकगीतों में यथार्थ का परुष पक्ष भी विद्यमान रहता है, पर इस प्रकार जग मोहनेवाले मीठे बोलों की चर्चा करके कोयल को लोकगायिका बहुत आत्मीय रीति से आंगन में बुलाती है।[36] अन्यत्र विवाह का निमंत्रण भेजने का कार्य भौंरा को और विवाह ठीक करने का कार्य सुआ को सौंपा जाता है।[37] यहां अपनी निकटता में प्रकृति मानवीय जीवन के समान स्तर पर संबंधों और भावों का आदान-प्रदान करती हुई प्रस्तुत है।

इस आत्मीय निकटता की भावना से प्रेरित होकर लोक की नववधू अपनी सोहागरात के आनंदोल्लास को अबाध रखने में प्रकृति के पात्रों से सहायता की प्रार्थना करती है : 'आज सुहाग की रात है, चंदा तुम उगना, तुम निश्चय ही प्रकाशित होना। पर सूरज तुम न उदय होना। हे मुर्गे, तुम आज न बोलना, बोल कर मेरा हृदय बिरस मत करना। हे पौ, तुम आज न फटना, कहीं मेरी छाती न फट जाए।'[38] अपनी भावना और आकांक्षा के इतने निकट लाकर इन प्रकृतिरूपों को संबोधित किया गया है कि लगता है कि वे लोकजीवन के अभिन्न पात्र हैं। यह प्रकृति का आत्मीय संवेदन लोकगीतों के वातावरण में ही संभव है। इस प्रसंग में संबोधन की मार्मिकता के कारण आत्मीय सहचरण का भाव अधिक सघनता से संवेदित हुआ है।[39]

लोकमानस के स्तर पर प्रकृति और जीवन एक साथ प्रवाहित हैं। इस अभिन्न स्थिति में दोनों सहानुभूति और संवेदन के एक ही स्तर पर हैं। साहित्य की अभिव्यक्ति में प्रकृति पर जो मानवीय रूपाकार, जीवन अथवा भावनाओं का आरोप होता है, वह लोकसाहित्य की प्रकृति के अनुकूल नहीं। लोकगायक को प्रकृति को, अपने जीवन के संदर्भ में, सजीव अथवा सप्राण अनुभव करने की आवश्यकता भी नहीं होती। उसके लिए प्रकृति अपने आप में सजीव और सप्राण है, वह अपने ही

रूपाकार में प्रस्तुत है, वह उसके लिए पात्र है, व्यक्तित्व है, चरित्र है। इसी कारण वह अपने समान धरातल पर प्रकृति को संबोधित ही नहीं करता, वरन उसको अपनी सुख-दुःख, आह्लाद-अवसाद, प्रेम-करुणा आदि भावनाओं में मग्न भी पाता है। यह साहित्य में व्यंजित भावों के प्रक्षेपण से इस प्रकृति की भावमग्नता में अंतर है क्योंकि यहां प्रकृति स्वतंत्र पात्र और चरित्र के रूप में प्रस्तुत है। जो भावसाम्य या संवेदन की एकरूपता का आधार है वह आत्मीय निकटता अथवा सहचरण के कारण है।[40]

लोकगीतों में यथार्थ का एक स्तर सदा बना रहता है। प्रकृति और लोक-जीवन एक दूसरे के प्रति सहानुभूतिशील हैं, तो उपेक्षाशील और निरपेक्ष भी। राम-लक्ष्मण सीता की खोज में चले जा रहे हैं और मार्ग में चकवा पक्षी से पूछते हैं: 'ये चकवा, तुम बात सुनो। क्या तुमने सीता को इस बाट जाते देखा है?' चकवा निरपेक्ष भाव से उत्तर देता है: 'मैं तालाब के बीच रहता हूं, आकाश में उन्मुक्त उड़ता हूं, मैंने सीता को जाते नहीं देखा।'[41] उसके इस अभिमान के कारण राम ने लक्ष्मण को उसे मार डालने की आज्ञा दी। यहां चकवा रावण के पक्ष का (समान) जैसे माना गया हो। अन्यत्र एक स्त्री कोयल को सपत्नी के रूप में मान कर कहती है:

> रामा अगिया लगाइबि कोइलरि तोहरी ही बोलिया।
> जरी से कटाइबि घनि बगिया हो रामा।।[42]

उसे भय है कि उसकी मीठी बोली से पति आकर्षित हो जाएगा।

लोकगीतों में सहज जीवन की एक सक्रिय प्रेरणा के रूप में प्रकृति उद्दीपनविभाव के अंतर्गत भी स्वीकार की जा सकती है। लोकमानस प्रकृति को अपने भावावेश के स्तर पर सर्वत्र ग्रहण करता है, पर अन्यत्र प्रकृति के प्रति उसका भाव समकक्षता अथवा सहचरण का रहा है। पर इसी स्तर पर वह लोकजीवन को अनेक भावात्मक क्षणों में उद्दीप्त भी करती है। अधिकतर ऋतु अथवा काल संबंधी परिवर्तनों और रूपों से माननीय भावों को उत्प्रेरित और अधिक संवेदित, अंकित किया गया है। लोकसाहित्य में ऋतुओं के वर्णन के स्थान पर बारहमासों का प्रचलन अधिक है, तथा होली, हिंडोला, कजरी आदि ऋतु विषयक प्रसंगों को भी लिया गया है। बारहमासों की परंपरा में प्रमुखता आषाढ़[43] तथा चैत[44] मास से वर्णन आरंभ करने की है। इस प्रदेश में वर्षा और वसंत दोनों ही उल्लास की ऋतुएं हैं, दोनों में प्रकृति शृंगार करती है और इसी कारण मानवीय भावों को उद्दीप्त करने में इनका अधिक सहयोग है। परंतु इनके अतिरिक्त बारहमासों का प्रारंभ सावन[45], फागुन[46], कार्तिक[47], माघ[48] से भी होता है। अधिकतर तो सामान्य विरहिणी की भावना के साथ मासों का प्रत्यावर्तन अंकित है, इनमें कुछ में विरहिणी की उक्ति

परदेसी पति के प्रति है, कुछ में सखी से अपनी वेदना और कष्टों का वर्णन है और कुछ में अपनी वेदना को स्वतः व्यक्त किया गया है। कभी तो परदेस जाते हुए पति से प्रवत्स्यतपतिका स्त्री का कथन भी मासों के माध्यम से हुआ है।[49] गोपियों के प्रसंग को लेकर भी बारहमासा हैं, जिनमें कुछ में गोपी विरहिणी के रूप में कृष्ण को लक्ष्य करके कहती हैं, कुछ में विरहिणी गोपी की उद्धव के प्रति उक्ति है।[50] रामकथा के संदर्भ को लेकर चलनेवाले बारहमासों में कुछ का संबंध लंका युद्ध के अवसर पर लक्ष्मण के शक्ति लगने से है और कुछ का राम के वनवास प्रसंग से है।[51] एक स्थल पर मां अपने होनेवाले शिशु को लक्ष्य करके बारहमासों का उल्लेख करती है।[52]

लोकजीवन के विश्वास-अंधविश्वास का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसकी परिधि में प्रकृति के विभिन्न रूपों-उपकरणों का आना स्वाभाविक है। वैदिककाल के प्रकृति देवता सूर्य, पवन, अग्नि, इंद्र (वर्षा देव) आदि से लेकर आदिम संस्कारों के अंतर्गत आनेवाली वृक्षपूजा तक इसमें मिलती है। और इसका प्रभाव लोकगीतों में भी देखा जा सकता है। एक स्त्री सूर्य को सुंदर पुत्र की कामना से प्रणाम करती है, 'पचरा' का गायक पूर्व में उदित होनेवाले सूर्य और पश्चिम की ज्योति चंद्रमा का स्मरण करता है, संतानकामना से स्त्री सूर्यदेव की प्रार्थना करती है :

ये मोरे सूरज हम पर होउ दयाल सजन बोली बोलइं।[53]

जनेऊ के अवसर पर मां वर्षा देव को मनाती है कि 'तुम गरजो बरसो नहीं, मेरे स्वामी आते होंगे।'[54] तुलसी के चौरा को छूकर शपथ खाने अथवा मरने आदि के संदर्भों में उसमें स्थापित देवत्व की व्यंजना है। देवी के प्रसंग में अड़हुल तथा चंपा के पुष्पों की पवित्रता का उल्लेख है।[55] फिर भी कहा जा सकता है कि भावात्मक प्रकृति के कारण ऐसे संदर्भ लोकगीतों में बहुत कम हैं।

लोकसाहित्य में मुक्त प्रकृति और स्वच्छंद अभिव्यक्ति के कारण काव्यकौशल और शिल्पगत विशेषताओं का महत्व नहीं होता। अलंकारों का प्रयोग अभिव्यक्ति की शैली और शिल्प से संबद्ध है, इस कारण लोकगीतों में न तो अलंकारों का सचेष्ट और शिल्पगत प्रयोग मिलेगा और न उस रूप में प्रकृति के विविध उपमानों का प्रयोग ही। जो आलंकारिक प्रयोग आ जाते हैं वे सहज भावाभिव्यक्ति के अंग के रूप में हैं। यही कारण है कि सादृश्यमूलक अथवा अधिक से अधिक गम्योपम्याश्रय अलंकारों का रूप देखा जा सकता है। प्रकृति के उपमानों का क्षेत्र काव्य में प्रधानतः यही है, क्योंकि प्रकृति के विभिन्न रूपों तथा स्थितियों की सादृश्य भावना से ही उपमान ग्रहण किए जाते हैं। प्रकृति उपमानों का सबसे व्यापक प्रयोग उपमा के रूप में हुआ है। लोकगीतों में 'स्त्री को पान के समान पतली, फूल के समान

सुंदर' कह कर रूप और भाव दोनों स्तर के सौंदर्यबोध को व्यंजित किया गया है। उसके 'दांत बिजली के समान, ओंठ काटे गए पान के समान हैं।' लोकनायिका के 'नेत्र खंजन हैं और उसका मुख शरद काल का चंद्रमा है' (रूपक)।[56] अन्यत्र प्रसूता स्त्री के रूपचित्रण के लिए भी प्रकृति उपमानों का आश्रय लिया गया है : 'उसके केस जैसे रेशम के लच्छे हों, नाक ऐसी सुंदर है जैसे तोता की चोंच, मस्तक जैसे चंदन घिसने का होरसा हो, नेत्र जैसे आम की फांक हों, दांत ऐसे सुंदर हैं जैसे अनार के दाने, ओंठ सुंदर हैं जैसे अनार की कली, जांघ ऐसी है जैसे केले के खंभ, अंगुलियां सुंदर हैं जैसे केले की फलियां।'[57] (उपमा)। यहां एक प्रसूता स्त्री का सौंदर्यवर्णन काव्यपरंपरा की प्रवृत्ति के बहुत अनुकूल नहीं है, इसके अतिरिक्त उपमानों के चयन में मुक्त प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। लोकगीतों में उपमानों और अप्रस्तुतों की योजना किसी काव्यात्मक दृष्टि से न होने के कारण अलंकारों की स्थिति अनेक बार अस्पष्ट हो जाती है। जहां तक प्रकृति-संबंधी उपमानों के प्रयोग का प्रश्न है, इनमें सादृश्य, साधर्म्य और बिंब-प्रतिबिंब भाव की प्रधानता रहती है। अतः उपमा, रूपक के साथ अर्थांतरन्यास, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, उदाहरण तथा दृष्टांत का प्रमुखतः प्रयोग मिलता है।

संदर्भ

1. कृष्णदेव उपाध्याय : 'भोजपुरी ग्राम-गीत', सोहर 9; 1; गोंड के गीत; 9; 1. रामनरेश त्रिपाठी : 'ग्राम-साहित्य', सोहर 69, 14; सोहर 7, 16.
2. रा० त्रि०; ग्रा० सा०; सोहर 7, 1.
3. वही, 'जनेऊ के गीत', 17, 1.
4. वही, 'विवाह के गीत', 33, 1.
5. वही, सोहर 2, 1, 4; सोहर 55, 1.
6 कृष्णदेव उपाध्याय : भो० ग्रा०; 'पिड़िया के गीत', 4, 1, 2 : पिड़िया के गीत 3; 9.
7. वही, 'रोपनी के गीत'; 5, 1, 2.
8. वही, 'बहुरा के गीत', 5, 1.
9. वही, उतसार 5; 1.
10. रा० त्रि०, ग्रा० सा०; सोहर 12; 1 : 45; 1.
11. कृ० उ० : भो० ग्रा०; विरहा 48.
12. रा० त्रि०; ग्रा०; ग्रा० सा०, सोहर 32; 1, 'जनेऊ के गीत', 12; 1. कृ० उ०; भो० ग्रा०; चैता 3; 1 रा० त्रि०; ग्रा० सा०; 'विवाह के गीत', 53; 1. कृ० उ०; भो० ग्रा०; चैता 21; 1.
13. कृ० उ०; भो० ग्रा० भजन 8; 4.
14. वही, विवाह 8; 1.
15. रा० त्रि०; ग्रा० सा०; 'विवाह के गीत', 7; 1.
16. वही, सोहर 7; 1; 51; 3, 2. कृ० उ०; भो० ग्रा०; होली 5; 1.

17. वही; कजली 8.
18. वही, झूमर 4; 1; निरगुन 4; 1. रा० त्रि०; ग्रा० सा०; सोहर 50; 8.
19. कृ० उ०; भो० ग्रा०; चैता 13; 2, 3 : भजन 15; 1. रा० त्रि०; ग्रा० सा०; सोहर 21; 1
20. वही, बिरहा 65.
21. वही, जतसार 18; 1, 3
22. वही, सोहर; 12; 1. रा० त्रि०; ग्रा० सा०; सोहर 15; 1, 3.
23. वही, 'विवाह के गीत', 20; 1, 2.
24. वही, 47; 1, 2, 3
25. वही, सोहर 28; 2, 3.
26. वही.
27. वही, 'बहुरा के गीत', 6; 10.
28. रा० त्रि०; ग्रा० सा०; सोहर 38; 1.
29. कृ० उ०; भो० ग्रा०; जतसार 4; 1.
30. वही, झूमर 31; 1, 2
31. वही, विविध 4; 1.
32. रा० त्रि०; ग्रा० सा०; सोहर 6; 1.
33. वही, सोहर 48; 1.
34. वही, विवाह 45; 1.
35. कृ० उ०; भो० ग्रा०; पूर्वी 3.
36. रा० त्रि०; ग्रा० सा०; 'विवाह के गीत', 49; 1, 2.
37. वही, 46; 1, 2; 1, 2.
38. वही, 66; 1, 2.
39. वही, सोहर 8; 1.
40. वही, सोहर 12; 26.
41. कृ० उ०; भो० ग्रा०; भजन 8.
42. वही, चैता 28.
43. वही, बारहमासा 1; 3; 5; 9; 14 तथा 15.
44. वही, 8 और 12.
45. वही, 4, 10
46. रा० त्रि०; ग्रा० सा०; सोहर 40.
47. कृ० उ०; भो० ग्रा०; बारहमासा 2.
48. वही, बारहमासा 7.
49. वही, बारहमासा 1; 4; 5; 10; 11; 13; 14; 15 , 6.
50. वही, बारहमासा 2; 3; 9.
51. वही, बारहमासा 7; 12; 8.
52. रा० त्रि०; ग्रा० सा०; सोहर 41.
53. कृ० उ०; भो० ग्रा०; सोहर 13 : पचरा 1. रा० त्रि०; ग्रा० सा०; सोहर 44; 9.

54. वही, 'जनेऊ के गीत', 2; 2.
55. वही. रोपनी 4 : पचरा 11; 12,
56 वही, सोहर 1; 1 : बिरहा 3; 4 : होली 13; 1, 2
57. रा० त्रि०; ग्रा० सा०; सोहर 65.

लोककाव्य की भावभूमि और रसनिष्पत्ति

लोक की अभिव्यक्ति को साहित्य कहने के साथ ही यह मान लिया गया है कि लोकगीत तथा गाथाएं आदि लोककाव्य के रूप हैं। सामान्य अर्थबोध की दृष्टि से इस प्रकार का अभिधान स्वीकार किया जा सकता है, परंतु साहित्य के सजग अध्येता को उनके मौलिक अंतर को दृष्टि में रखना चाहिए। इस अंतर के प्रति सजग न रहने से काव्य तथा लोककाव्य दोनों के मूल्यों अथवा प्रतिमानों के प्रति भ्रामक प्रतिपत्तियां ग्रहण की जाती हैं और जिनसे हम भ्रामक निष्पत्तियों तक पहुंचते हैं। इसी प्रकार की एक स्थिति लोककाव्य की भावभूमि के संबंध में है। लोकसाहित्य के विवेचकों ने प्रायः लोककाव्य की भावभूमि को काव्य की भावभूमि के समकक्ष स्वीकार कर लिया है। इस समकक्षता को स्वयंसिद्ध मान लेने के कारण ही उन्होंने लोककाव्य की भावभूमि को रसभूमि ही माना है। लोकसाहित्य के संबंध में सामान्यतः और लोकगीतों के संदर्भ में विशेषतः विभिन्न रसों की स्वतंत्र चर्चा इस बात का साक्ष्य है।

निर्दिष्ट निबंध में कहा गया है लोक की अभिव्यक्ति लोकजीवन की प्रक्रिया का अंग है, पर साहित्यिक सर्जनात्मक होती है, वह जीवन से उद्भूत, प्रेरित या संबद्ध होकर भी अपनी तटस्थता अथवा असंपृक्ति में उसका अंग नहीं हो सकती। साहित्य जीवन का सर्जन है, पुनः जीने की प्रक्रिया है। लोकाभिव्यक्ति के क्षणों में भी समाज के बीच व्यक्ति अपनी सजगता में प्रमुखतः जीवन का अनुभव करता है, जब कि साहित्यिक यथार्थ जीवन के सर्जन में भी सामाजिक जीवन का अनुभव न कर के सर्जन के असंपृक्त सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार यह लोकसाहित्य तथा साहित्य की आधारभूमि का अंतर है जिससे लोककाव्य और काव्य की भावभूमि का स्तरभेद भी स्पष्ट होता है। इस मौलिक अंतर के कारण दोनों के रसबोध में भारी अंतर है।

काव्याभिव्यक्ति में कवि की स्थिति स्पष्ट और निश्चित है। पाठक या रसज्ञ साधारणीकरण के स्तर पर आनंद (रसबोध) प्राप्त करता है या आधुनिक दृष्टि से सक्रिय सहयोग (ऐक्टिव पार्टिसिपेशन) की स्थिति से कवि की सर्जनप्रक्रिया का अनुभव करता है। परंतु दोनों ही स्थितियों में कवि (स्रष्टा के रूप में) और पाठक (रसज्ञ के रूप में) की दो भिन्न स्थितियां मानी जाएंगी। पर जहां तक लोकाभिव्यक्ति का प्रश्न है इसमें ये दो स्थितियां संभव नहीं हैं, यहां स्रष्टा और उपभोक्ता की समस्थिति है, दोनों का एक ही व्यक्तित्व में समाहार हो जाता है। काव्य की भावभूमि के इस अंतर के कारण लोककाव्य में रसनिष्पत्ति की स्थिति प्रतिपादित होना संभव नहीं है।

वस्तुत: 'रसनिष्पत्ति' शब्द अपनी काव्यशास्त्रीय विवेचनाओं में 'काव्यानुभूति', 'सौंदर्यानुभूति' तथा 'काव्यानन्द' आदि शब्दों का समानार्थी है, अर्थात इसके द्वारा काव्य की भावभूमि के सौंदर्यबोध को व्यक्त करने के लिए ही इसका प्रयोग हुआ है। भरत ने इसके विषय में कहा है: विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्ति:'[2] और इसके आधार पर काव्य की रसपरक व्याख्या का गंभीर और तत्वपूर्ण सिद्धांत विकसित हुआ है। वस्तुत: भरत ने अपने सूत्रवाक्य के माध्यम से एक ऐसे काव्य सिद्धांत का आधार प्रस्तुत किया है जिसमें काव्यानुभूति की व्याख्या के लिए मानस की संवेगात्मक प्रवृत्तियों और प्रक्रियाओं का आधार स्वीकृत है।[3] भरत ने विभाव, अनुभाव तथा संचारियों के संयोग से रसनिष्पत्ति को स्वीकार किया है। यद्यपि भरत के इस सूत्रवाक्य के आधार पर रससिद्धांत संबंधी सूक्ष्म और गहन चिंतन काव्य की मौलिक प्रकृति की दृष्टि से हुआ है, पर उन्होंने रस के अंगों के निरूपण और रसभेद विवेचन की ऐसी परंपरा भी डाली है जिसके भ्रमजाल से रसनिष्पत्ति का सूक्ष्म चिंतक अंतत: निकल नहीं सका है।

यह अवश्य है कि भट्टलोल्लट की ही नहीं भरत की दृष्टि में भी रस के निरूपण में रंगमंच की व्यावहारिकता विशेष थी, प्रेक्षक का दृष्टिकोण नहीं।[4] यही कारण है कि उन्होंने रस के अंगों का जितना स्पष्ट उल्लेख किया है, उतनी ही स्पष्टता से रस का रसों में विभाजन किया है। उनके द्वारा व्यवहृत शब्द 'संयोग', 'आस्वाद्य' तथा 'उपचित' (विभाव, अनुभाव, संचारी आदि भावों की स्थायीभाव की अनुकूलता ग्रहण करना) प्राय: इसी व्यावहारिक दृष्टि का परिचय देते है। आगे के आचार्यों के द्वारा रस की सूक्ष्म और गहन विवेचना प्रस्तुत किए जाने पर भी रस की यह व्यावहारिक दृष्टि एक स्तर पर सदा स्वीकार्य रही है, जिसके अनुसार रसनिष्पत्ति अर्थात रसास्वादन को सामान्य भावात्मक प्रक्रिया के रूप में ग्रहण किया गया है और एक ओर विभाव, अनुभाव तथा संचारी आदि को उसके सहयोगी अंग के रूप में निर्धारित किया गया तथा दूसरी ओर स्थायी भावों के आधार पर विभिन्न रसों का नामकरण किया जाता रहा है। इसी व्यावहारिक दृष्टि के कारण लोककाव्य में भी रस की अवतारण तथा विवेचना की गई है।

लोककाव्य में रस की स्थिति मानने वालों की मान्यता रसनिष्पत्ति के प्रथम विवेचक आचार्य भट्टलोल्लट से अधिक भिन्न नहीं है। उन्होंने विभाव को रस का कारण माना, और स्थायीभाव की 'उपचित' अवस्था का नाम रस माना है। परंतु प्रमुख बात है कि उन्होंने रस को अनुकार्य में माना है, यद्यपि रूपादिक अनुसंधान से अनुकर्त्ता (नट) में भी विद्यमान स्वीकार किया है।[5] भट्टलोल्लट के मत को प्रस्तुत करते हुए मम्मट ने 'प्रतीयमान' शब्द का प्रयोग किया जिसकी व्याख्या करने में गोविंद ठक्कुर ने इस मत को आरोपवाद का नया रूप प्रदान

करने का प्रयत्न किया है।[6] परंतु इसके बावजूद इस सिद्धांत के अंतर्गत रस को जीवन की सामान्य भावात्मक प्रक्रिया से भिन्न नहीं माना गया है। इसका समाधान 'संयोग' के भट्टलोल्लट द्वारा ग्रहीत अर्थों से हो जाता है। 'संयोग' को चाहे स्थायी-भाव के साथ उत्पाद्य-उत्पादक संबंध माना जाय, चाहे अनुभाव को अनुमाप्य-अनुमापक संबंध से उनकी अनुमिति कराने वाला माना जाए, अथवा यह माना जाय कि संचारी भाव पोषक-पोष्य-भाव संबंध से उनकी रस रूप में पुष्टि कराते हैं, इन सभी स्थितियों में यह मान कर चला गया है कि जीवन के समान काव्य में (नाटक में) भावसंवेगों का सांगोपांग संयोग ही रस है अर्थात रस की स्थिति जीवन और काव्य में समान आधार पर स्वीकृत है। यदि यहां यह भी मान लिया जाय कि प्रस्तुत संदर्भ में वृत्त का अर्थ 'काव्यवृत्त' है जिसकी कल्पना कवि करता है,[7] तब भी कवि की इस कल्पना का आधार जगत है, और यह कवि के प्रत्यक्ष बोध, स्मृतियों तथा विचारों के स्वतंत्र संयोगरूप कल्पना पर आधारित है। इस रूप में जब आचार्य कहते हैं कि रस की स्थिति अनुकार्य (चरित्र) में है, तो वे कवि-कल्पित चरित्रों की भावात्मक प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक आधार को स्वीकार करते हैं। परंतु इससे उनकी काव्यात्मक रसानुभूति संबंधी सौंदर्यदृष्टि का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता।[8] अभिनेताओं के कौशलपूर्ण अभिनय अथवा सामाजिकों के आरोपमूलक चमत्कार हेतु से भी इससे भिन्न कुछ सिद्ध नहीं हो पाता।

इस दृष्टि से लोकसाहित्य अथवा काव्य में रस की स्थिति सहज स्वाभाविक है। लोककाव्य में अनुकार्य तथा अनुकर्ता का विभेद होता ही नहीं। लोककाव्य लोकप्रवाह का स्पंदित अंग है, यह लोकमानस की अभिव्यक्ति है और इस लोकाभिव्यक्ति की अधिकांश भावना और प्राणवत्ता उस गतिशील परंपरा पर आधारित है जिसके माध्यम से वह लोकमानस पर सक्रिय होती आई है और उस वातावरण से स्फुरित है जो लोकजीवन की नानाविध स्थिति-परिस्थितियों से अभिन्न है। इसी कारण लोककाव्य में साहित्यिक अभिव्यक्ति की दो कोटियां स्वीकार्य नहीं हैं, यहां रचयिता और उपभोक्ता की एक ही स्थिति है, दोनों का समाहार एक ही व्यक्तित्व में हो जाता है। लोककाव्य जीवन की प्रवाहित धारा की उल्लासमयी भावोद्वेलित तरंग है जो जीवन के सहज यथार्थ से अपनी अभिव्यक्ति के क्षणों में भी अविच्छिन्न रूप से बंधी रहती है।[9] अतः भट्टलोल्लट की व्याख्या के अनुसार लोककाव्य में रस की स्थिति सहज मान्य होगी। लोकाभिव्यक्ति जीवन से अभिन्न है, अतः स्थायी भावों के उत्पन्न करने के लिए आलंबन तथा उद्दीपन विभावों के समुचित विस्तार की आवश्यकता नहीं होती, बहुत कुछ उनकी स्थिति जीवन में निहित रहती है। स्थायीभाव के पुनः प्रतीति-योग्य होने के लिए अनुभावकार्यों की योजना भी इसी कारण हो जाती है और उसके रस रूप में उपचित होने के लिए सहकारी रूप व्यभिचारी भावों की सांगोपांग स्थिति भी आवश्यक नहीं रह जाती।

यह हृदयतत्व से संवेदित ऐसा भावात्मक प्रवाह है जो अपनी रसदशा में सहज माना जाएगा, क्योंकि यहां अनुसंधानवश प्रतीयमान होने की अपेक्षा नहीं रह जाती है।

रससूत्र के दूसरे व्याख्याकार आचार्य शंकुक की दृष्टि भी दृश्यकाव्य पर प्रधानतः रही है। उन्होंने रसनिष्पत्ति का आधार आरोप के स्थान पर अनुमान माना है। अपनी स्थापना में वह रससिद्धांत को जीवन की स्थिति से काव्य-सौंदर्य के स्तर पर प्रतिष्ठित करने में एक कदम आगे बढ़े हैं। भट्टलोल्लट ने स्थायीभाव को उपचित अवस्था 'रस' को सीधे वास्तविक चरित्रों (जीवन अथवा काल्पनिक काव्यवृत्त) से संबद्ध मान लिया है। परन्तु शंकुक ने वास्तविक पात्रों के स्थायीभाव को विभावादि कारण, अनुभावादि कार्य, व्यभिचारी आदि संचारियों के द्वारा प्रयत्नपूर्वक अर्जित होने पर अनुमान के बल से अनुकरण रूप में अनुकर्ता में कृत्रिम होकर भी मिथ्या न भासते हुए प्रतीयमान हुआ माना है।[10] यहां स्पष्टतः शंकुक ने स्थायीभाव की स्थितिमात्र को वास्तविक जीवन में माना है, जो अनुक्रियमाण स्थायीभाव (रति) के अभिनय से रस (श्रंगार) होता है। इस प्रकार यह रस जीवन से संबद्ध न होकर काव्याभिव्यक्ति से संबद्ध है, ऐसा माना जा सकता है। अपने अनुमान की विशिष्ट (काव्य तथा कलागत) स्थिति समझाने के लिए उन्होंने 'चित्र-तुरग-न्याय' का दृष्टांत प्रस्तुत किया है, जिससे भी यही सिद्ध होता है कि इस आचार्य ने रस को जीवन से अलग काव्य के संदर्भ में रख कर देखने का प्रयत्न किया है। यद्यपि काव्य में कल्पनातत्व की स्पष्ट व्याख्या के अभाव में शंकुक का अनुमान जीवन से प्रत्यक्षबोध की स्मृति और अनुभव तक सीमित रह जाता है।[11] इस स्थिति में वास्तविक पात्र (आश्रय) के स्थायीभाव के अनुमान मात्र से सामाजिक में रसदशा मानी जाएगी। यह ठीक है कि 'चित्र-तुरग' के उल्लेख द्वारा शंकुक समस्त काव्याभिव्यक्ति को सामान्य प्रत्यक्षबोध तथा स्मृतिसंयोग के क्षेत्र से उठा कर कल्पना के व्यापक आधार पर प्रतिष्ठित करते हैं, फिर भी वह जीवन में भावों और संवेगों की स्थिति तथा काव्य की रसदशा का संबंध निरूपित नहीं कर सके हैं।

लोक-काव्याभिव्यक्ति प्रत्यक्ष जीवन की प्रक्रिया का अंग है। सारा लोक-समाज इस अभिव्यक्ति के माध्यम से उस लोकपरंपरा के प्रवाह के साथ अनुभव करता है जिसका वह युगीन रूप है, साथ ही अपने युगसमाज की सामूहिक भावना का इसके द्वारा अनुभावन भी करता है। अतः इस अभिव्यक्ति में वास्तविक जीवन के स्थायीभावों की स्थिति और काव्य (अभिनय) के स्तर पर रस-दशा की स्थिति का अंतर इस रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। एक दूसरी दृष्टि लोककाव्य की अभिव्यक्ति में इस सिद्धांत द्वारा प्रतिपादित रस-निष्पत्ति को स्वीकार किया जा सकता है। शंकुक ने माना है कि वास्तविक जीवन के स्थायीभाव कारणकार्य-सहकारियों से अर्जित (सक्रिय भावावस्था में)

होकर काव्यात्मक (अभिनयात्मक) अनुकरण रूप में 'अनुमान के बल से' रसदशा को प्राप्त होते हैं। वस्तुतः लोककवि या गायक अपने ही स्थायीभाव को अर्जित करता है और अपनी आत्माभिव्यक्ति की अनुकृति में 'अनुमान के बल से (स्मृति-संयोग, अनुभवज्ञान के साथ कल्पना की व्यापक सीमाओं में) ऐसी भावावेश की स्थिति प्राप्त करता है जो शंकुक की रसदशा से अधिक भिन्न नहीं है। अपने जीवन से संपृक्त अभिव्यक्ति में लोकजीवन अपनी यथार्थ भावाभिव्यक्तियों को अधिक मार्मिकता से अनुभव करता है, और इसका कारण अपने ही जीवन का कल्पना की मुक्ति के साथ अनुभावन करना है।

वस्तुतः रसनिष्पत्ति के सिद्धांत को काव्य की भावभूमि पर पूर्णतः प्रतिष्ठित करने का श्रेय भट्टनायक को है। एक प्रकार से अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद तथा भट्टनायक के भोगवाद में तात्विक अंतर नहीं है, एक की दृष्टि में प्रधानतः काव्य है और दूसरे की दृष्टि में नाट्य। इन्होंने रस की स्थिति को व्यक्ति-निरपेक्ष माना है। चाहे भावकत्व तथा भोजकत्व शक्तियों के द्वारा अथवा लक्षणा तथा व्यंजना के द्वारा दर्शक या पाठक प्रत्यक्ष जीवन के 'निजत्व के मोह से' असंपृक्त होता है। नाटकीय कलात्मक प्रदर्शन अथवा काव्यात्मक सुंदर अभि-व्यक्ति के कारण उसका मन 'विशिष्टता के बोध' को भूलता जाता है और जितना वह 'व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के बोध' को विस्मृत कर पाता है उतना ही वर्णित व्यक्ति या स्थिति को वह साधारणीकृत निरपेक्ष रूप में गृहण करने में समर्थ होता है। इस स्थिति के बाद कलात्मक सौंदर्य के स्तर पर वह (सामाजिक) स्थायीभाव का रसरूप में भोग करता है जो अपनी 'विलक्षणता' में लौकिक अनुभव से भिन्न' है, 'आनंद रूप' कहा जा सकता है। इस प्रकार भट्टनायक के अनुसार 'भावकत्व शक्ति' और 'साधारणीकरण व्यापार' से 'ताटस्थ्य तथा आत्मगतत्व संबंधी दोष' दूर हो जाता है, और तदनंतर भोजकत्व शक्ति द्वारा सामाजिक भावित स्थायी भावादि का रस रूप में भोग करता है जो अपनी विलक्षणता में ब्रह्मानंद के समान 'लौकिक अनुभव से भिन्न' होता है, अतः यह रस संवित्-विश्रांति है।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद काव्य के शुद्ध स्तर पर रससिद्धांत की पूर्ण व्याख्या माना जा सकता है। भोगवाद से समता रखते हुए भी अभिनव का मत कई दृष्टियों से भिन्न है। उन्होंने अनुमान के अर्थ से प्रतीति को अस्वीकार करके भी प्रतीति के अतिरिक्त भोग का अर्थ स्वीकार नहीं किया। स्थायीभाव का ही भोग हो सकता है, उसकी प्रतीति चित्त में बनी रहती है। अतीत अथवा अनुपस्थित वस्तु का भोग कैसे किया जा सकता है? भोग भी व्यवहार है, अतः उसके साथ प्रतीति आपसे आप स्वीकृत हो जाती है।[12] अभिनव ने भोग-व्यापार को अंततः व्यंजना अथवा ध्वनन व्यापार माना है। साथ ही उन्होंने सर्वप्रथम सामाजिकों के अंतःकरण में 'वासना रूप स्थायीभावों' को स्वीकार किया है। इस 'वासना संवाद'

को रस हेतु मानने से रस का सामाजिक के भावों से सीधा संबंध स्वीकार किया गया है। अभिनव ने भाधारणीकरण के दो स्तर माने हैं—एक स्तर पर विभावादि का व्यक्ति-विशिष्ट संबंध छूट जाता है (भट्टनायक) और दूसरे स्तर पर सामाजिक का 'व्यक्तित्व-बंधन' नष्ट हो जाता है अर्थात विभावादि के साथ स्थायी-भाव का साधारणीकरण होता है और साथ ही सामाजिक की अनुभूति का साधारणीकरण होता है।[13] अभिनव ने, इसके अतिरिक्त रस के काव्यात्मक आयाम की व्याख्या करने के लिए सामाजिक को 'सहृदय' रूप में स्वीकार किया है, 'विघ्नविनिर्मुक्ति' की चर्चा की है और रस को संवित् विश्रांति कहा है।

उपर्युक्त विवेचन को दृष्टि में रखकर यदि लोकाभिव्यक्ति पर विचार किया जाए तो दोनों की स्थितियों का अंतर स्पष्ट हो जाएगा। रसनिष्पत्ति की व्याख्या में आचार्यों ने जिस 'निजत्व के मोह' के दूर होने की 'ताटस्थ्य तथा आत्मगतत्व संबंधी दोष' दूर होने की और व्यक्ति-वैशिष्ट्य के बोध के विस्मृत होने की चर्चा की है, लोकाभिव्यक्ति के संदर्भ में इसको स्वीकार नहीं किया जा सकता है। लोकगायक इस अभिव्यक्ति (लोककाव्य) के प्रति न तटस्थ है और न निजत्व की भावना से असंपृक्त ही है। वह इसके दुख-सुख, राग-द्वेष, प्रेम-करुणा, तथा उत्साह-निराशा आदि का सक्रिय अनुभव करता है। अतः काव्यरस के विषय में जो विलक्षणता, विघ्नविनिर्मुक्ति तथा संवित्-विश्रांति आदि का प्रतिपादन किया गया है, वह लोकाभिव्यक्ति के स्तर पर स्वीकार नहीं किया जा सकता। साधारणीकरण की स्थिति को भी यहां इस रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि लोकगायक अभिव्यक्ति के संपूर्ण भावावेग को सामाजिक स्तर पर भी व्यक्तिगत रूप में ग्रहण करता है।

परंतु फिर भी लोकाभिव्यक्ति (काव्य) का संवेदन मात्र जीवन की साधारण स्थितियों-परिस्थितियों के संवेदन से भिन्न है। इसके दो कारण हैं। पहले तो यह अभिव्यक्ति सक्रिय रूप से सर्जनात्मक है, दूसरे इसका सहभोग सामाजिक स्तर पर ग्रहण किया जाता है। काव्य पाठक का सर्जन नहीं है, वह उसका पुनः सर्जन कर सकता है, और इसी प्रकार पाठक काव्यानुभूति का सहभोगी होता है। परंतु लोकगायक लोकमानस के स्तर पर लोकप्रवाह में अपनी अभिव्यक्ति का स्वयं स्रष्टा भी है और भोक्ता भी। सहभोगी तो वह अपने संपूर्ण सामाजिक स्तर पर है, क्योंकि उसके सर्जन में और उसके भोग में सारे समाज का योग है।[14]

संदर्भ

1, द्रष्टव्य; लेखक का 'साहित्य और लोक साहित्य' नामक शोधनिबंध (राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन अभिनंदन ग्रंथ).

2. नाट्य०; 6; 32.
3. लेखक; रस सिद्धांत और मनोविज्ञान, हिं० अनुशीलन; वर्ष 3, अंक 2.
4. कांतिचंद्र पांडेय; कंपरेटिव एस्थेटिक्स, भाग 1, पृ० 29-30.
5. अभिनव भारती; पृ० 264.
6. 'नटे तु तुल्यरूपतानुसन्धानवशादारोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कारहेतुः' (का० प्र०; 4; 28 के अंतर्गत).
7. आनंदप्रकाश दीक्षित; काव्य में रस (अप्रकाशित प्रबंध); पृ० 200.
8. लेखक; रस सिद्धांत और आधुनिक मनोविज्ञान, हिंदी अनुशीलन; वर्ष 3, अंक 2.
9. लेखक; साहित्य और लोक साहित्य (राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन अभिनंदन ग्रंथ).
10. अभिनव भारती; भाग 1, पृ० 274.
11. हिंदी साहित्य कोश; रसनिष्पत्ति (लेखक द्वारा).
12. अभिनव भारती, भाग 1, पृ० 279.
13. हि० सा० को०; साधारणीकरण; (लेखक).
14. प्रस्तुत विषय की यहां स्थापना मात्र हो सकी है, अन्यत्र समुचित विवेचन और प्रतिपादन किया जा सकेगा.

साहित्य और लोकसाहित्य

कभी अपनी शब्ददरिद्रता के कारण हम एक शब्द का प्रयोग उसके एक संदर्भ से अलग भिन्न संदर्भ में करते हैं, पर ऐसे प्रयोगों में अनेक बार भ्रम की संभावना बनी रहती है। लोक के साथ साहित्य का प्रयोग बहुत कुछ ऐसा ही है। वस्तुतः जिस विशिष्ट अर्थ में हम 'साहित्य' शब्द का प्रयोग करते हैं और जिस सांस्कृतिक भावभूमि के स्तर पर उसकी व्याख्या करते हैं, उस दृष्टि से लोक से उसकी संगति बैठ नहीं सकती। भारतीय परंपरा में स्वयं लोक शब्द का भी ठीक वही अर्थ स्वीकृत नहीं रहा है, जो यहां अभिप्रेत है अर्थात अंगरेजी 'फोक' पर्याय रूप में। यहां प्रायः वेद अथवा शास्त्र के विपरीत लोक को माना गया है जो लौकिक के रूप में 'सेक्यूलर' के अधिक निकट है। मध्ययुग में अवश्य समस्त शास्त्रीय और नागरिक शिष्ट परंपराओं के विरुद्ध जिसे मान्यता मिली है वह लोक ही है। पर यहां भी लोक अधिक व्यवस्थित और नियोजित लोकमानस की चेतना का द्योतक रहा है। लोक के पर्याय रूप में लोक ऐसे समाज को कहा जाएगा जो संस्कृति के संचरण के विविध चरणों से एक स्तर पर संपर्कित होकर भी उनके समानांतर आदिम समाज की प्रवहमान धारा के रूप में अवस्थित रहता है। इसी दृष्टि से डा० सत्येन्द्र का कहना है कि लोक-समाज आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना और अहंकार से शून्य रहता है और एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है।

साहित्य की प्रारंभिक से प्रारंभिक व्याख्या में मनुष्य की सारी बोधन और भावन चेष्टाओं की अभिव्यक्ति का समावेश हो जाता है और व्यापक रूप में शब्द अर्थ के सहभाव की स्थिति में मनुष्य की संपूर्ण भावाभिव्यक्ति तथा उसका समस्त अर्जित ज्ञान साहित्य के अंतर्गत आ जाता है। इसी कारण भारतीय परंपरा में साहित्य का प्राचीन प्रयोग शास्त्र के अर्थ में हुआ है और आगे चल कर काव्य के लिए इसका प्रयोग किया जाने लगा है। 'लिट्रेचर' शब्द का प्रयोग साहित्य के समान कभी व्यापक और कभी सीमित अर्थ में किया जाता है, पर इतना स्पष्ट है कि यह मनुष्य की सजग बोधन और भावन की चेष्टाओं से संबद्ध है। ऐसी स्थिति में साहित्य सदा संस्कृति का अंग माना जाएगा, वह संस्कृति जो नागरिक रही है, जिसका संबंध शिष्ट तथा आभिजात्य समाज से रहा है। साहित्य अपने व्यापक और सीमित दोनों अर्थों में शास्त्र, पांडित्य तथा परंपरा के नियमित रूप से संबद्ध रहा है। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाए तो साहित्य लोक की मौलिक प्रकृति से भिन्न ही नहीं उसके विपरीत पड़ता है।

जिस प्रकार लोकसाहित्य की व्याख्या की जाती है, उस पर विचार करने से

भी यह अंतर्विरोध की स्थिति प्रकट होती है। लोकसाहित्य की व्याख्या करते समय जिन बातों का विवेचन किया जाता है उनमें मौलिक बात है उसको लोक-मानस की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार करना। इसी दृष्टि से यह अभिव्यक्ति मौखिक है, देशकाल की सीमाओं से अप्रभावित है और इसमें व्यक्तित्व का अभाव भी रहता है। लोकमानस जिस भाषा में प्रवाहित है वही इसका माध्यम होगी और उसकी स्वच्छंदता ही इसकी प्रकृति होगी। परंतु इससे यह भी स्पष्ट हो जाता कि यह अभिव्यक्ति लोकजीवन की प्रक्रिया का अंग है, फिर चाहे वह बोधन चेष्टाओं के रूप में हो या भावन व्यापारों की हो। साहित्यिक अभिव्यक्ति सर्ज-नात्मक होती है, वह जीवन से उद्भूत, प्रेरित या संबद्ध होकर भी अपनी तटस्थता में उसका अंग नहीं हो सकती है।

आज लोकसाहित्य लिखित रूप में उपलब्ध हो गया है, इस कारण हम उसको साहित्य के समान और उसी के स्तर पर अपने अध्ययन का विषय स्वीकार कर लेते हैं। पर उसकी मौलिक प्रवृत्ति मौखिक मानी गई है, यही नहीं इस संपूर्ण साहित्य की स्थिति लोकसमाज के प्रवहमान जीवन के क्रम के साथ स्वीकृत है। जैसा कहा गया है वह लोकप्रवाह का स्पंदित अंग है। ऐसी स्थिति में लिखित-संकलित रूप में इस अभिव्यक्ति पर विचार करना सीमित ही माना जाएगा। जिस प्रकार किसी नाट्यकृति की अभिव्यक्ति की पूर्णता को रंगमंच पर उसकी अवतारणा के बिना नहीं समझा जा सकता, उसी प्रकार लोक की इस अभिव्यक्ति को उसके जीवनक्रम के प्रवाह में ही संपूर्णता के साथ ग्रहण किया जा सकता है। उसके संकलित रूप के आधार पर हमारा कोई भी अध्ययन उसकी वास्तविक भावना तक नहीं पहुंच सकता। लोक अभिव्यक्ति की अधिकांश भावना और प्राण-वत्ता उस गतिशील परंपरा पर आधारित है, जिसके माध्यम से वह लोकमानस पर सक्रिय होती आई है और उस वातावरण से स्फुरित है, जो लोकजीवन की नानाविध स्थिति-परिस्थितियों से अभिन्न है।

साहित्य जीवन का सर्जन है; कह सकते हैं उसमें जीवन को पुनः जीने की प्रक्रिया होती है। लोक अभिव्यक्ति के क्षणों में भी समाज के बीच व्यक्ति अपनी सजगता में प्रमुखतः जीवन का अनुभव करता है, जबकि साहित्यिक यथार्थ जीवन के सर्जन में भी सामाजिक जीवन का अनुभव न कर के सृष्टि के असंपृक्त सुख का अनुभव करता है। साहित्य में रचयिता या स्रष्टा की स्थिति निश्चित है और पाठक या रसज्ञ साधारणीकरण के स्तर पर रसबोध ग्रहण करता है अथवा सक्रिय सहभोग की स्थिति में रचयिता की सर्जनप्रक्रिया का अनुभव प्राप्त करता है। पर दोनों ही स्थितियों में स्रष्टा और पाठक की दो भिन्न कोटियां मानी जाएंगी। लेकिन लोक अभिव्यक्ति में ये दो कोटियां संभव नहीं है, यहां स्रष्टा उपभोक्ता की एक ही स्थिति है, दोनों का समाहार एक ही व्यक्तित्व में हो जाता है। यह

उसकी विशिष्ट स्थिति है जो साहित्य से उसे पृथक करती है। इस स्थिति में लोक अभिव्यक्ति साहित्य की सौंदर्याभिव्यक्ति नहीं है, वह जीवन की प्रवाहित धारा की उल्लासमयी तरंग है, जो जीवन के सहज यथार्थ से उसी समय अविच्छिन्न रूप से बंधी भी है।

साहित्य को सांस्कृतिक उपलब्धि के रूप में समझा गया है। संपूर्ण युग अपने सांस्कृतिक संचरण में व्यापक मूल्यों की उपलब्धि के लिए जो संघर्ष झेलता है, प्रयत्न करता है, चिंतन-मनन करता है अथवा संवेदन प्राप्त करता है, एक ओर साहित्य इन सबका अनुभावन है और दूसरी ओर उन मूल्यों की सर्जनात्मक उपलब्धि भी है। पर सामाजिक और युगीन स्तर पर भी साहित्य के अनुभावन तथा उपलब्धि का सारा दायित्व व्यक्ति वहन करता है, तत्संबंधी समस्त चेष्टा और प्रयत्न वह अपने व्यक्तित्व के माध्यम से करता है। इसके विपरीत लोक अभिव्यक्ति (साहित्य) न किसी युग से इस रूप में संबद्ध है और न किसी समाज के प्रयत्नों का परिणाम ही है। सारा लोक समाज इसके माध्यम से उस लोकपरंपरा के प्रवाह के साथ अनुभव करता है जिसका वह युगीन रूप है, साथ ही अपने युग समाज की सामूहिक भावना का इसके द्वारा अनुभावन भी करता है। इसमें अभिव्यक्त दुख-सुख, राग-द्वेष, प्रेम-करुणा तथा उत्साह-निराशा आदि एक ओर अपने आदिम संस्कारों का अनुभव है, दूसरी ओर सामाजिक स्तर पर सहभोग है।

साहित्य और लोकसाहित्य के इस मौलिक अंतर के कारण दोनों के मूल्यों का स्रोत भिन्न है और दोनों के प्रतिमानों का आधार भी अलग अलग है। सर्जन होने के कारण साहित्य, काव्य और कला जीवन से संबद्ध होकर भी अपने मूल्यों के स्वतंत्र प्रतिमान अन्वेषित करते हैं। जीवनगत मूल्यों पर आधारित होकर भी सौंदर्यसृष्टि के रूप में ये प्रतिमान साहित्य के भाव (विषयवस्तु) और शिल्प (शैली और रूप) दोनों का निर्धारण करते हैं। सौंदर्य स्वयं मानवीय भाव होकर भी संस्कार का विषय है। काव्यसौंदर्य की विवेचना, यूरोप तथा भारत के काव्यशास्त्रियों ने, चाहे भावपक्ष पर बल दिया हो या शिल्प-पक्ष पर, संस्कार और शास्त्र की दृष्टि से ही की है। पर लोकसाहित्य में संस्कार और उपलब्धि के रूप में चर्चा करना संगत नहीं है। वह लोक-कल्पना का अंग है, लोक-मनोरंजन का स्वरूप है, लोकजीवन के आवेगों और संवेगों के साथ अभिव्यक्त होता है। इस कारण उसके संबंध में लोकजीवन के अपने सहज और मुक्त मूल्यों के अतिरिक्त किन्हीं मूल्यों का कोई संदर्भ नहीं होता है, ये मूल्य भी उसमें अभिव्यक्त भर होते हैं, उपलब्ध नहीं। मूल्यों की निश्चित उपलब्धि के अभाव में तत्संबंधी प्रतिमानों का निर्धारण भी नहीं किया जा सकता है।

लोकसाहित्य के जिन मूल्यों और प्रतिमानों की चर्चा की जाती है, वे वास्तव में साहित्य और कला के अर्थ में स्वीकार नहीं किए जा सकते हैं। लोक-

साहित्य में जीवन का यथार्थ इस अर्थ में स्वीकृत है कि वह जीवन की यथार्थभूमि पर स्वीकृत है। वह सामाजिक अभिव्यक्ति इस अर्थ में माना जा सकता है कि लोक-समाज के व्यापक जीवन में अंतर्भुक्त है और उसे हृदयतत्व से युक्त रस रूप में इस कारण मान लिया जाता है कि लोक इसके माध्यम से अपने दुख-सुख का सहभोगी होता है, जबकि साहित्य को उपयोगिता की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता, वह निर्भर सौंदर्य तथा आनंद के रूप में स्वीकार किया गया है, लोक-साहित्य लोकसमाज के जीवन की प्रक्रिया में अत्यंत उपयोगी तत्व है और वह जीवन के सीधे और प्रत्यक्ष अनुभव के रूप में सुंदर और असुंदर सुख और दुख दोनों की समान अनुभूति है। अपने प्रतिमानों की इस अनिश्चित स्थिति अथवा अनावश्यक स्थिति के कारण लोक अभिव्यक्ति अपने शिल्प और शैली के प्रति कभी सजग नहीं होती। उसका सारा शिल्प, शैली, छंद, लय, ताल, विन्यास, उक्ति, कथन, प्रवाह और विधान जीवन के प्रवाह से निर्धारित होता है, जबकि साहित्य शिल्प और वस्तु के सामंजस्यपूर्ण संतुलन में अपनी अभिव्यक्ति का मार्गान्वेषण करता है। लोकसाहित्य विषय होता है वस्तु नहीं, पर साहित्य विषय को वस्तु रूप में ही ग्रहण करने की शर्त मानकर चलता है।

लोकसाहित्य के अंतर्गत गीतों और गाथाओं को काव्य रूप में ही माना जा सकता है। परंतु लोकगीत लोकजीवन के किसी संस्कार से, अवसर से, त्योहार-उत्सव से, क्रिया या व्यापार से संबद्ध रहते हैं। बिना इस वातावरण के, भाव-भूमि और परिस्थिति के लोकगीतों के संकेतों, संदर्भों, रेखाओं, संवेगों और संवेदनाओं को उसके पूर्ण परिवेश और व्याप्ति में समझा नहीं जा सकता। इसी प्रकार लोक गाथाओं को लोकजीवन के विश्वासों, अंधविश्वासों, आदर्शों, नैतिक आचरण की मर्यादाओं, संस्कारों, प्रचलनों, चरित्रों, कथाओं, जनश्रुतियों, दंतकथाओं और समग्र वातावरण के बीच रख कर ही उनके भावावेगों के उत्थान-पतन को ग्रहण किया जा सकता है। इसी प्रकार लोककथाओं के कौतूहल, चमत्कार, कल्पना-लोक, शिक्षा, उपदेश, नीति, मनोरंजन और हास्य-व्यंग्य को उसके जीवन के संदर्भ में अर्थात अलावों, बैठकों, व्रतों, बूढ़े-बूढ़ियों से घर के बच्चों के संबंधों तथा गांव के कथाकारों की निजी शैली के मुक्त वातावरण में ही समझा और ग्रहण किया जा सकता है। गीतों में लय की प्रधानता, गाथाओं में गानेवालों का स्वर तथा उसके साथ चलनेवाले वाद्यों के सामंजस्य का महत्व तथा कथाओं के मंद और सुस्थिर गति से चलनेवाले प्रवाह के साथ कहनेवाले की शैली, अनिवार्य रोचकता आदि तत्व इस बात के साक्ष्य हैं कि लोक साहित्य की मौलिक प्रवृत्ति साहित्य के समस्त संस्कारी वातावरण से नितांत भिन्न है।

अनेक बार कहा जाता है कि काव्य की परंपरा में रोमांटिक आंदोलन लोक-जीवन और लोक साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। उसकी आत्माभिव्यक्ति,

स्वच्छंदता, मुक्ति, विद्रोह, जीवन को सीधे झेलने की वृत्ति, उसके अंतर्गत अभिव्यक्त होने वाला प्रेम, उल्लास, भावावेग, प्रवृत्ति और जीवन से सीधे संबंध स्थापित करने की अकुलाहट आदि को किसी न किसी अर्थ में और स्तर पर लोक-जीवन तथा साहित्य से संबद्ध किया जाता है। परंतु लोक साहित्य में इन प्रवृत्तियों की स्थिति लोकमानस के प्रवाह की गति से निर्धारित होती है, और उसकी सारी स्वच्छंदता, मुक्ति तथा विद्रोह लोक की जीवन-संबंधी आकांक्षा का ही प्रतिफलन है। यह आकांक्षा उसके सामाजिक जीवन की परंपरागत रूढ़ियों के गतिरोध के बीच से अपने आदिम प्रवाह की अदम्य जीवनधारा को मुक्त रखने का प्रयत्न है। इसको व्यक्ति के समाज के प्रति किए गए विद्रोह के रूप में नहीं माना जा सकता है, यह तो दो स्थितियों में से एक का दूसरे के प्रति विद्रोह है। लोकजीवन का एक पक्ष रूढ़िबद्ध है, परंपरावादी है, गतानुगतिक है, वर्ण और धर्म, समाज, आचरण आदि के क्षेत्रों में विजड़ित हैं। पर उसका ही दूसरा पक्ष जीवन की मुक्त तथा स्वच्छंद कामना से इन सबके प्रति विद्रोह जान पड़ता है। पर लोक-साहित्य में यह मुक्ति की कामना विद्रोह की सक्रिय शक्ति नहीं हो पाती और न उसमें साहित्य के समान संघर्ष, विध्वंस और निर्माण की विभिन्न शक्तियां ही सक्रिय हो पाती हैं। यह साहित्य जीवन की स्थिति का प्रतिफलन मात्र है, इसमें एक साथ जीवन की रूढ़ियों और स्वच्छंद जीवन की आकांक्षा व्यक्त होती है। विद्रोह जो किसी युग की सांस्कृतिक चेष्टा और प्रयत्न की दिशा है इसमें आभासित भर होता है, इसकी शक्ति का संधान साहित्य की सांस्कृतिक उपलब्धि में ही देखा जाता है।

उपालंभ काव्य की आधारभूमि

प्रेम की तटस्थ स्थिति में आशा-निराशा की विषम भावना प्रेमिका को प्रेमी के प्रति उपालंभशील बना देती है। यह प्रेम के विस्तार में स्त्री-पुरुष के रतिसंबंध से लेकर भक्त-भगवान् की भक्तिभावना तक समाहित है। जब प्रेम की स्थिति में वियोग की व्यथा चरम पर पहुंचकर गंभीर वेदना के प्रसार में अवरोह लेती है उस समय उपालंभ की सहज चेतना स्वाभाविक अवरोह बन जाती है। इसमें अंतर्वेदना बाह्य उपेक्षा से ऐसी ढकी रहती है कि जैसे सागर बड़वाग्नि को छिपाए तरंगित होता रहता है, जिसमें अगर व्यापक ज्वाला है तो अगाध शीतलता भी है। परंतु उपालंभ के मधुर उलाहने को शिकवा-शिकायत के रूप में नहीं समझा जा सकता, यद्यपि उर्दू साहित्य में इनका प्रयोग बहुत कुछ समान अर्थ में हुआ है। इन दोनों भावनाओं का आधार भी एक है। परंतु शिकायत में प्रेम से अधिक घृणा और उपेक्षा का भाव परिलक्षित होता है, और प्रेम के मधुर उलाहने में प्रगाढ़ साहचर्य की भावना सन्निहित है। अन्याय की बात समान होने पर भी एक में आक्रोश बदला चाहता है, और दूसरे में वेदना अपनी आत्माभिव्यक्ति मात्र। एक में विफलता खीज और झुंझलाहट में प्रकट होती है, और दूसरे में विवशता सहानुभूति का आधार ढूंढ़ती है। हम उलाहना उसी को देते हैं, जिससे हमारी आत्मीय सहृदयता का संबंध होता है। उपालंभ में प्रेम की उपेक्षा का उलाहना हो सकता है और कर्तव्य की निष्ठुरता की शिकायत भी, परंतु इसकी पृष्ठभूमि में प्रेम की अदृश्य भावना विभिन्न छायातपों में फैली ही रहती है। प्रेम की इसी पृष्ठभूमि पर, जिसमें वियोगव्यथा की समरस स्थिति के साथ भावमयी प्रज्ञा का समन्वय हो जाता है, उपालंभ काव्य का विकास हुआ है।

यह भावना जनसाधारण की स्वाभाविक प्रवृत्ति से संबंधित है। जनसमाज में उपालंभ भावना का बड़ा ही कोमल रूप ग्रामगीतों में मिलता है। ग्रामगीतों में भाषा और भाव का परिष्कार नहीं होता, परंतु उनमें भावनाओं की स्वाभाविक अभिव्यक्ति और कोमलता की सरल भावुकता अवश्य मिलती है। जनसमाज का पुरुष कठोर है। वह कर्म की कठोर वास्तविकता से लड़ता लड़ता सत्य से अधिक परिचित हो पाता है। इस जीवन में सौंदर्य की पूर्ति स्त्री की कोमल भावुक कल्पना से होती है। पुरुष अपनी वेदना और अपनी व्यथा को भूल जाता है, यदि भूल न भी सके तो वह अभिव्यक्तिशील और उत्तेजक होती है। इसी कारण हम देखते हैं कि उपालंभ की कोमल अभिव्यक्ति का सारा प्रसार वियोगिनी की विरहव्यथा को लेकर है। उसी ने अपने जीवन की सरस धारा से वियोग को परिप्लावित रखकर प्रेम की चिरंतनता को शाश्वत रखा है। जनगीतों की उपालंभ भावना इसी

बात का साक्ष्य देती है। अपने द्वार पर खड़ी वियोगिनी न जाने युग युग से अपने परदेशी प्रियतम की प्रतीक्षा कर रही है। आते-जाते प्रत्येक पथिक से, जो अज्ञात रूप मे प्रिय के देश का ही पथिक है, उसने न जाने कितने संदेश भेजे होंगे। और वह संदेश क्या है ? वह केवल प्रिय की निष्ठुरता और उपेक्षा का उलाहना है, जिसमें वियोगिनी के उमड़ते हुए उच्छ्वासों के बादल भी छाए हुए हैं। वह अपनी वियोग दशा का रूप वर्णन कर अपने प्रियतम को बताना चाहती है कि उसने कितना बड़ा अपराध किया है। साथ ही क्षण क्षण में बीतते युगों की अवधि को बताने के लिए वह प्रकृति परिवर्तन के नाना रूप तथा उपकरणों को प्रिय की स्मृतिसंयोग के आधार पर सजाती और संबोधित करती उपालंभ के इस चिरंतन संदेश में वियोगिनी थककर पथिक पर अविश्वास करने लगती है, और फिर वह नारी मात्र की ओर से समग्र पुरुष जाति के प्रति उपालंभशील हो उठती है।

जनगीतों की वियोगिनी के उपालंभ का माध्यम एक मात्र अपरिचित पथिक ही नहीं है। वह अपनी स्थिति में विवश है और अपने विरह में व्याकुल। यदि पथिकों को दिया हुआ संदेश अथवा उसके माध्यम से प्रिय को दिया हुआ उपालंभ, नहीं पहुंचता; तो उसके मन की विवशता अभिव्यक्ति का माध्यम ढूंढ़ लेती है। और फिर मन की इस वेदना की अभिव्यक्ति के लिए वह सखियों को भी माध्यम स्वीकार कर लेती है। वह जानती है यह उपालंभ प्रिय तक पहुंच नहीं सकेगा, सखियां उसी के समान विवश हैं और इसीलिए मौन भी। इस प्रकार पूर्व स्मृतियों के आधार पर सखियों को लक्ष्य करके जो उपालंभ दिया जाता है, उससे नायिका को सहानुभूति का बहुत बड़ा आलंबन प्राप्त होता है। यही नहीं, अपनी अपनी व्यापक संवेदना में वियोगिनी प्रकृति के रूपों से अपनी विरहव्यथा सुनाती है, कोयल, कागा, हंसा और चील आदि को निकट आत्मीयता से संदेश-वाहक बनाती है। इन संदेशों में अपने प्रिय के प्रति उपालंभ ही छिपा रहता है। कभी कभी उपालंभ की इसी भावस्थिति में प्रकृति के उद्दीपक रूपों के प्रति वह अपना उलाहना देने लगती है; जैसे वह कहना चाहती हो 'मेरे दुख में उल्लसित होना तुम्हें शोभा नहीं देता।' और प्रकृति से इस प्रकार वियोगिनी अपना साहचर्य का संबंध स्थापित करती है।

जनगीतों में प्रेम कल्पनात्मक, सौंदर्य प्रतीकों में व्यक्त नहीं होता, उसमें मांसल वासना का स्वच्छंद और उन्मुक्त उद्वेग अधिक रहता है। इसका कारण जनजीवन का सहज मनोविज्ञान है। इस कारण उपालंभगीतियों में भी उद्वेग रहता है, परंतु इस उद्वेग में कृत्रिमता के स्थान पर सरल-सहज भाव ही अधिक रहता है :

क्या पावुन यियिन फीरिथ,
मानंदि तीर जन गुम नीरिथ। (काश्मीरी)

[हाय, क्या वह यौवन फिर आएगा जो तीर की तरह निकल गया।] ग्रामयुवती ने बीतते हुए यौवन को किस स्वाभाविक कसक के साथ याद किया है, और साथ ही उसको व्यर्थ करने वाले के प्रति इसमें कितना बड़ा व्यंग्य छिपा है। काश्मीरी ग्रामयुवती प्रकृति के शृंगार और उसके रूप को देखकर अपने परदेशी पति से भावावेश में पूछ उठती है :

फूलया लज्यमो गुलनय कोसमन तविय सुम्बलनय।
यम्बूरजल जुम्बारनि लयि वनितोम अदकर थिये ॥

(काश्मीरी)

[कोसम और संबुल आदि फूलों में शिगूफा (कलियां) आया है। यंबुरजल नामक पुष्प भ्रमर के प्रेम में गल गया है। बताओ, कब आओगे ?] वियोगिनी के सामने प्रकृति का सौंदर्य अपने विकसित और नश्वर रूप में आता है; वह अपने जीवन की समानांतर स्थिति में प्रकृति से व्यापक सहानुभूति का आधार प्राप्त कर लेती है। फिर इस संवेदना के भावावेश में वह अपने प्रिय से पूछ उठती है, मानो प्रकृति से ही, उसने इस माध्यम से अपने उपालंभ की कोमल व्यंजना ध्वनित की है।

राजपूताने की विरहिणी कदाचित पत्र लिखने में असमर्थ है, परंतु अपनी अज्ञात आकांक्षा को अपने गीत में पूरा करती है। साथ ही मन के प्रबल उद्वेग के साथ अपने प्रिय को उपालंभ भी दे रही है :

उजड़ खेड़ा भंवरजी ! फिर बसे जी।
हाँ जी ढोला, निरधन के धन होय।
जोबन गये पीछे कना जावड़े जी,
ओ जी थाने लिखूँ बारंबार।
जल्दी घर आओ जी क थारी घण एकल जी ॥

(राजस्थानी)

[हे भंवर जी, गांव उजड़ कर फिर बस जाता है, निर्धन को धन थी मिल जाता है; पर गया हुआ यौवन फिर नहीं लौटता। हे मेरे प्राणधन, मैं बार बार तुमको लिखती हूं; जल्दी आओ, तुम्हारी प्यारी अकेली है।] यौवन बीत रहा है, क्षणिक है, यह कहकर ग्रामयुवती ने अपनी कसक तो जताई ही है, साथ ही उसने अपने भ्रमर पति की निष्ठुरता के प्रति उपालंभ भी दिया है। इस गीत में वियो-गिनी तन्मय भावस्थिति में स्वगतकथन द्वारा पति को उपालंभ दे रही है। उसी प्रकार एक गीत में प्रकृति के रूपकों के आश्रय से ग्रामयुवती मार्मिक व्यंजना करती है जो अत्यधिक कोमल है :

जोबन सदा न भंवर जी। थिर रहे जी।
हां जी ढोला, फिरती घिरती छाँह।
पुल का तो बोया जकि मोती नीपजै जी।

आं जी प्यारी जी जावे बाट।
जल्दी पधारो देश की।

(राजस्थानी)

[हे भंवर जी, यौवन सदा स्थिर नहीं रहता, यह तो बादल की छाया है जो कभी होती है कभी मिट जाती है। समय पर बोया मोती उपजता है। हे पति, तुम्हारी बाट जोह रही हूं; जल्दी घर पधारो।] इन गीतों में भावों के आवेश के साथ स्वस्थ वासना की मांसलता भी प्रत्यक्ष है। और इसीलिए उपालंभ का स्वर तीव्र है। परंतु जब प्रकृति का आश्रय लेकर ग्रामयुवती अपनी मन:स्थिति व्यक्त करती है, उस समय प्रकृति के विरोध में भावों की व्यंजना बिना स्थूल आधार के सुंदर हो जाती है। पावस के उल्लास के बीच विरहिणी अपने को इस प्रकार पाती है :

घिरि आइलि बदरिया सावन की।
कड़कड़ गरजे पड़पड़ बरसे।
धीरज मोर नसावन की।
भई अँधोरिया कछु नाहि सूझे।
जियरा मोर कंपावन की।
अति निरमोही पिय न अइले।
आसा अब न आवन की।
बन में आजु पपीहा बोले।
पी पी नाहि सुहावन की।

[सावन में आकाश पर बादल घिरे हुए हैं। कड़ककर बिजली गरज उठती है, और पड़ पड़ पानी बरसने लगता है। मेरा धैर्य नष्ट हो रहा है। ऐसा अंधकार छा गया है कि कुछ दिखाई नहीं देता। मेरा हृदय कांप रहा है। प्रिय अत्यंत निष्ठुर हैं, आए नहीं। और न अब आने की आशा ही शेष है। उधर आज वन में पपीहा बोल रहा है, उसका पी पी बोल जरा भी नहीं सुहाता।] पहली गीतियों में भाव प्रत्यक्ष है, उन्मुक्त है, इस गीति में वही भाव प्रकृति के विरोध से व्यंजित हो रहा है। उनमें जो यौवन की पीड़ा और कसक थी वह इस गीति की भावधारा में विरह-वेदना बन गई है।

प्रारंभ में कहा गया है कि इन ग्रामगीतियों में वियोगिनी अपने उपालंभ के माध्यम के रूप में कभी सखियों को संबोधित करती है, कभी पथिक से संदेश भेजती है और कभी प्रकृति के पात्रों से सहज आत्मीयता का संबंध स्थापित करती है। सखी विरहिणी की आत्मीयता पात्र सहचरी है, वह तो उसकी सारी मनोव्यथा को जानने योग्य विश्वास की प्राप्त है। सच पूछो तो वह स्वयं अपनी सखी के दुख को अपनी मौन संवेदना में सह रही है। वियोगिनी गायिका प्रकृति के उल्लास की पार्श्वभूमि में अपनी वेदना को अपनी सखी से कह रही है :

उमड़ि बादल घिरे चहुँ दिशि,
गरजि गरजि सुनावहीं।
श्याम ऐसे निठुर बालम,
मास असाढ़ न आवहीं।
सावन रिमझिम मेघ बरिसय,
जोर से झारि लावहीं।
चहुँ ओर चकित मोर बोले,
दादुर शब्द सुनावहीं।
आसिन हे सखी आस लगवल,
श्याम अजहूँ न आवहीं।
ताल भरि भरि नीर हे सखि,
विदित वर्षा हो गई॥

[उमड़-घुमड़कर बादल चारों ओर छा गए हैं और गर्जना सुनाते हैं। ऐसा आषाढ़ मास आ गया, पर श्याम ऐसे निष्ठुर हैं कि फिर भी नहीं आए। श्रावण मास में मेघ घिरे हुए हैं और जोर की झड़ी लगी हुई है। चकित होकर चारों ओर मोर बोल रहे हैं और दादुर भी शब्द कर रहे हैं। और हे सखी, देखो आश्विन मास लग गया, पर श्याम अब भी नहीं आए। तालाब में चारों ओर से पानी भर गया है। हे सखी, इस प्रकार पावस का प्रसार चारों ओर हो गया है।] इस वेदना की अभिव्यक्ति में गायिका ने सखी के सामने और भी संयम से काम लिया है, और विरोध के रूप में उमड़न और पीड़ा की व्यंजना हुई है। कभी कभी जनगायिका प्रतीकों के सहारे ही अपनी वेदना अभिव्यक्त करती है, उस समय उपालंभ भी व्यंजक तथा अतिशय कोमल रूप में हमारे सम्मुख आता है :

बोहित बेइलि एक हरि झापेनी दुधवा सिंचायेनी।
आप हरि भये बनजारा बेइलि कुम्हिलानि॥
मिलहु रे सखिया सहेलरि मिलिजुलि चलहु न।
सखिया हरि जी की लावलि बेइलिया सींचि जगावहु।
एक घरिला सींचि नौरंगिया दूसरे घरिला बेइलिया।
आइ गई हरि जी की सुधिया नैन आँसू ढुरें॥

[प्रिय ने एक घनी बेल लगा कर उसे दूध से सींचा। पर प्रिय तो परदेशी हो गए और बेल कुम्हलाने लगी। हे मेरी सखियो और सहेलियो, आओ मिलजुल कर चलें और प्रिय की लगाई उस बेल को सींचकर हरा करें। मैंने एक घड़ी नारंगी को सींचा और दूसरी घड़ी उस बेल को सींचा। फिर प्रिय की सुधि आ गई और नैनों से आँसू बहने लगे।] इसमें विरहिणी ने बेल के रूप में प्रेम का प्रतीक मान कर अपने मन की व्यथा भी कही है और बनजारा हो जाने वाले प्रिय को उपा-

लंभ भी दिया है। साथ ही अपने कर्तव्य के निर्वाह (नारंगी सींचना) के बीच वह अपना प्रेम आंखों के नीर से किस प्रकार पाल रही है, यह भी व्यंजित किया है। इस प्रतीक के प्रयोग के कारण इस गीति में भाव की सूक्ष्म व्यंजना हुई है, जिससे यह काव्य के स्तर तक पहुंच सकी है।

ग्रामगायिका के लिए पथिक भाई के समान है, इसलिए वह प्रत्येक पथिक को अपना संदेश सुना देती है। परंतु पथिक अपरिचित ठहरा, फिर पुरुष से नारी वैसे भी निस्संकोच नहीं हो पाती है। इसलिए वियोगिनी, पथिक से अपना उपालंभ संकेतों में ही अधिक कहती है; और अपनी वियोगव्यंजना प्रकृति के माध्यम से करती है। प्रिय की प्रतीक्षा से थकी हुई एक विरहिणी पथिक से अपने निर्मोही पति की बात कहकर संदेश भेज रही है :

भारी भइले राम अंखिया।
अमवां मोजरि गइले महुआ ट के निरमोहिया।
कत दिन बाटिया जोहइवे रे लोभिया,
भारी भइले अंखिया।
बाट बटोहिया रे तुहुँ मोर भइया रे, निरमोहिया।
हमरो सनेस लले जइहे, रे लोभिया,
भारी भइले अंखिया।
हमरो सनेसवा रे प्रभु समझइहे, निरमोहिया।
तोरी धनी अलप बयस की रे लोभिया,
भारी भइले अंखिया।।

[हे राम, मेरी आँखें थक गईं। आमों में बौर आ गया, महुआ टपकने लगे। हे निरमोही; हे धन के लोभी, मेरे परदेशी पति। तुम कब तक मुझसे बाट जुहाओगे ? हे पथिक, तुम मेरे भाई हो। तुम मेरे उस निर्मोही और लोभी प्रिय के पास मेरा एक संदेश लेते जाओ। हे पथिक, मेरा यह संदेश समझा कर कहना कि तुम्हारी प्रिया अल्प वय की है।] इस उपालंभ में प्रकृति के उद्दीपन की पृष्ठभूमि से जैसे प्रतीक्षा की अटूट आशा में अनुभव होने वाली थकावट के रूप में कुछ उद्वेग आ गया हो। प्रतीक्षा की इस अनंत साधना में उपालंभ की कटुता सरल प्रेमी की भावना में घुलमिलकर दूर हो जाती है और मालूम भी नहीं होती जैसे वर्षा काल में सरिता के प्रवाह में कुछ अस्थिरता स्वाभाविक है। उपालंभ की यह अभिव्यक्ति कभी कभी केवल प्राकृतिक संकेतों के सहारे मिलती है, जिनमें भावों की कोमलता व्यंग से अधिक प्रभावशाली हो जाती है। साथ ही प्रकृति के प्रति सहज आत्मीयता इसकी सरल सौंदर्य भावना को अधिक बढ़ा देती है :

कौन फूल फूलला घरी रे पहरवा।
अरे कौन फूल फूले आधी रात, त भौंरा लुभाई।।

अड़हुल फूल फूलेला घरी से पहरवा।
अरे चंपा फूल फूले आधी रात त भौंरा लुभाई॥
तोको देवों भौंरा दूध-भात खोवां।
अरे हरि आगे खबर जनाऊ त फागुन आई॥

[कौन फूल पहर घड़ी रात रहे और कौन फूल आधी रात में फूलता है जिस पर भौंरा लुभाया रहता है। अड़हुल पहर रात रहे फूलता है और चंपा आधी रात में फूलता है। हे भौंरा! मैं तुम को कटोरे में दूध-भात खिलाऊंगी, तू जाकर मेरे प्राणनाथ को खबर दे कि आओ फागुन आ गया।] इस गीति में भी प्रतीकात्मक व्यंजना है और प्रकृति से आत्मीय सहानुभूति की स्थापना है। ग्राम की नायिका अनेक पक्षियों से अपनी आत्मीयता प्रकट करती है, और उन्हें अपने उपालंभ (संदेश के रूप में) का दूत बनाती है। इन गीतियों में उपालंभ का स्वाभाविक रूप हमारे सामने आता है।

प्रारंभ में कहा गया है कि उपालंभ में प्रेम की स्थितिमात्र स्वीकृत है। यद्यपि यह प्रेम स्त्री-पुरुष के प्रेम के रूप में अधिक समझा जाता है, फिर भी हमारे सामाजिक जीवन में प्रेम के अन्य गंभीर संबंध होते हैं। वस्तुत: उपालंभ की भावना प्रेम की उपेक्षामात्र से संबंधित है और इसमें उपालंभ देने वाले के मन की वेदना का योग रहता है। भारतीय जनगीतियों में भाई के प्रति या पिता के प्रति भी नारी की उपालंभ भावना युगों से सजग चली आ रही है। लड़की पिता के परिवार में पलती है और उसमें बरसों तक सहज स्नेह का विकास होता है। इस स्नेह प्यार को एकाएक भुलाया नहीं जा सकता। इसकी स्नेह स्मृति विवाहित जीवन में सदा बनी रहती है; और इस स्मृति को जब कोई कठोर आघात सहना पड़ता है, तब वह अधिक तीव्र बन कर वेदना बन जाती है। और यही कसक उपालंभ के रूप में व्यक्त होती है। इस उपालंभ के मूल में युवती के ससुराल के कष्ट भी होते हैं। सावन की काली घटा यदि विरहिणी को प्रिय की सुधि दिलाती है, तो नववधू की अपने स्नेही जनों की स्मृति भी तीव्र करती है। सावन में जो नववधू मायके नहीं जा सकी है, उसे अपने घर की याद आ रही है और वह अपने भाई को उपालंभ भी देती है। भाई उसको लेने नहीं आया और इसलिए उसे अपने परिजनों का वियोग सहना पड़ रहा है, यह भावना प्रधान रहती है। नववधू को अक्सर ससुराल में कष्ट भी सहने पड़ते हैं, इसकी ध्वनि भी इन उपालंभों में मिलती है। एक बहन अपने भाई को पाकर उससे अपनी ससुराल की कष्ट-कहानी सुनने के लिए कह रही है:

बैठो न मोरे भइया मालिनी ओसरवाँ रे ना।
भैया मोर दुख कहे मालिन धेरिया रे ना॥

[भैया, मालिन के ओसारे में तो एक बार जाकर बैठो। उसकी धेरिया (पुत्री)

तुमसे मेरे दुख का सब हाल कहेगी।] इस अव्यक्त उपालंभ की मूक व्यंजना भी बहुत करुण है; और इसमें ससुराल में युवती के करुण जीवन का चित्र अपनी मार्मिकता में सत्य है। मालिन की पुत्री उसके जीवन की अज्ञात करुण कहानी की जैसे सबसे बड़ी साक्षी बन जाती है।

हमारे समाज में पुत्री का जो स्थान है और जिस प्रकार उसे विवाहित हो कर एक अपरिचित व्यक्ति के साथ अपने परिवार को छोड़कर जाना पड़ता है, उससे विदा के समय उसका मन मनोव्यथा से भर जाता है और वह उपालंभ-शील हो उठती है। जो इस स्वाभाविक विज्ञान को भी नहीं समझ पाते, उनके लिए लड़कियों का विदा के समय रोना आश्चर्य या हंसी की वस्तु है। परंतु भारतीय जीवन में यह युगों से ऐसा ही चला आ रहा है। कालिदास का शकुंतला विदा का अमर चित्र कण्व के आश्रम का ही चित्र नहीं है, वरन उसमें भारतीय जीवन के घर घर का दृश्य अंकित है।

जनगीतियों में युगों से चली आने वाली हमारी अनेक प्रवृत्तियां सुरक्षित हैं। और जनगीतियों के स्वरों में फैली हुई ग्रामयुवती की यह उपालंभ भावना काव्य को अवश्य प्रेरणा देती रही है। इस भाव की सरल अभिव्यक्ति के साथ वियोगिनी नारी के मन की अनेक भावस्थितियों का संयोग है, इस कारण कवियों के लिए उपालंभ का विषय और भी प्रिय रहा है। साथ ही शृंगार के विप्रलंभ पक्ष का विस्तार इस उपालंभ काव्य में अधिक हो सका है।

भोजपुरी लोकगीतों में जनसंस्कृति

साहित्य जनजीवन से कभी तादात्म्य स्थापित नहीं कर सका। माना कि साहित्य में जीवन की अभिव्यक्ति होती है और जीवन का संबंध जन जन के रूप में फैले हुए देश और काल की सीमा में लोक से रहता है, पर साहित्य में तो समाज के विशिष्ट वर्ग ने, देश की प्रतिभा ने जो कुछ मनन किया था जिसकी चिंता और कल्पना की थी अथवा जो स्वप्नों का आल-जाल बुना था वही प्रतिबिंबित है, रक्षित है। आज हम इस साहित्य के आधार पर युगों की संस्कृति की रूपरेखा बनाना चाहते हैं, और ठीक भी है। किसी देश का किसी युग में बौद्धिक चिंतन का स्तर कितना ऊंचा था, आचरण के मूल्यों का मापदंड क्या था, भौतिक जीवन की सीमाएं क्या थीं और सौंदर्य कल्पना की कितनी ऊंची उड़ान थी, यह सब हम युगविशेष के साहित्य में बिखरे हुए सूत्रों से जान सकते हैं। परंतु इस साहित्य से जनसंस्कृति, जनता के बौद्धिक और कल्पनाशील स्तर का तथा आचरणसंबंधी मूल्यों का पता चलाना सरल नहीं है। भाषा के प्रवाह के समान ही स्वच्छंद और उन्मुक्त जनता के रूप में फैले हुए लोक का अपना साहित्य होता है। युग युग से लोक ने अपने भावों की अभिव्यक्ति अपनी गीतियों में की है। इन लोकगीतियों की स्वतंत्र और कोमल भावना में लोकसंस्कृति के तत्व बिखरे हैं। और लोकगीतियों की भावधारा में ही हमारी जनसंस्कृति का सच्चा रूप छिपा रहता है।

सभी देशों और सभी युगों में लोकभावना और साहित्यिक अभिरुचि के सांस्कृतिक भेद को स्पष्ट करने के लिए साहित्य और लोकगीतियों की भावधाराओं के अंतर पर विचार किया जा सकता है। साहित्य जिन आदर्शों को मानकर चलता है और जिन रूपात्मक (फार्मल) परंपराओं तथा रूढ़ियों का बंधन स्वीकार करता है, लोकभावना उनका अनुसरण करने के लिए बाध्य नहीं होती। लोकगीतियों की भावना अपनी सीमा सहज और स्वाभाविक को ही मानती हैं। वैसे तो यह बात सभी देशों के साहित्य के विषय में कही जा सकती है, पर भारतीय साहित्य आदर्श सादृश्य के कारण कभी इन गीतियों को अपनाने की शालीनता प्रकट नहीं कर सका और गीतियों की स्वच्छंद प्रकृति ने उनको साहित्य के सामने अकिंचन नहीं होने दिया। यही कारण है कि भारतीय साहित्य में आधुनिक युग के पूर्व लोकगीतियों की स्वच्छंद और उन्मुक्त अभिव्यक्ति को कम ही स्थान मिल सका है। भारतीय साहित्य में स्वच्छंद काव्य (रोमांटिक पोइट्री) का जो स्पष्ट रूप हमको नहीं मिलता, उसका एक प्रमुख कारण यह भी है।

लोकगीतियों के सांस्कृतिक तत्वों के अध्ययन के विषय में कुछ प्रारंभिक बातों का उल्लेख कर देना आवश्यक है। इन गीतों की परंपरा मौखिक होने के कारण

इनका रूप बदलता रहता है, पर साथ ही अनेक बातें परंपरा के रूप में रक्षित भी रहती हैं। इस प्रकार इनमें वर्तमान और भूतकाल इस प्रकार मिला-जुला रहता है कि यह निश्चित करना सरल नहीं है कि इनमें इतिहास का कौन सा रूप रक्षित है और प्रचलित परंपरा का क्या रूप निश्चित है। लोकगीतों में जनता की वर्तमान भावना का महत्व तो होता है, साथ ही प्राचीन परंपराओं का अवशेष, कभी कभी उनका विकृत रूप, भी रहता है। साथ ही जिन गायकों और गायिकाओं का स्वर इनमें गुंफित होता है उनकी अव्यक्त इच्छाओं और उन्मुक्त कल्पनाओं का योग भी इनमें विशेष रूप से मिला होता है। इन समस्त उलझनों के बीच से अपना मार्ग निकालना अध्ययन करने वाले का कर्तव्य है।

यहां इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर भोजपुरी लोकगीतों का संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है, परंतु इस अध्ययन की भी एक सीमा है। इस छोटे से निबंध में संस्कृति के व्यापक विस्तार पर विचार करना संभव नहीं है। और न इस अध्ययन के लिए समस्त सामग्री का आयोजन ही किया जा सकता है। इसलिए यहां राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक रूपरेखा को उभारने का प्रयास भर किया गया है।

राजनीतिक दृष्टि से भारत का जनसमाज सदा निरपेक्ष की स्थिति में रहा है। राजनीति संबंधी परिवर्तन के प्रति उसकी उपेक्षा जनगीतों में भी पाई जाती है। किसी व्यापक राष्ट्रीय भावना का अभाव समस्त मध्यप्रदेश के जनगीतों में पाया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि देश की वीरता के प्रति इन गीतों में कुछ नहीं कहा गया है। स्थानीय देशभक्ति (लोकल पैट्रिओटिज्म) और वीरपूजा की भावना समस्त देश के लोकगीतों में पाई जाती है। इनमें से प्रमुख रूप से यह भावना राजस्थानी और मध्यदेश के लोकगीतों में है। पर इस भावना से अन्य प्रदेशों के लोकगीत भी गुंफित हैं। भोजपुरी लोकगीतों में भी इस प्रकार के गीत हैं जिनमें वीरों की कहानियां गाई गई हैं। इस प्रदेश के वीरों ने सन '57 के विद्रोह में सक्रिय भाग लिया था और उसकी स्मृति यहां के कुछ जनगीतों में सुरक्षित है। इनमें जगदीशपुर (आरा) के कुअरसिंह की वीरता का वर्णन है :

बाबू कुअँर सिंह तोहरे राज बिनु
अब न रँगइबों केसरिया ॥
इतते अइले घेरि फिरंगी
उतते कुँअर दुइ भाई ॥

एक दूसरे गीत में कुंअरसिंह के उस विद्रोह का उल्लेख किया गया है जो उन्होंने तमाम भारत में विद्रोह शांत हो जाने पर भी जारी रखा था। इसी प्रकार एक अन्य गीत में मुगलकालीन सती नारी की वीरता का उल्लेख है कि किस प्रकार कुसमा देवी ने अपनी रक्षा एक तुर्क सरदार से की। परंतु इस प्रकार के कुछ गीतों

में केवल वीरता का उल्लेख है, उनमें किसी प्रकार की राष्ट्रीय भावना नहीं है। इधर वर्तमान राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभाव से वीरतापूर्ण राष्ट्रीय गीतों का प्रचार भी भोजपुरी में हुआ है। इन गीतों में जागरण की बात कही गई है, एकता की पुकार की गई है, राष्ट्रीय नेताओं की पूजा है और गांधीजी के प्रति विशेष श्रद्धा प्रदर्शित की गई है। संभवत: इधर सन '42 के संबंध में कुछ गीत प्रचलित हुए होंगे जो प्रस्तुत संग्रह में नहीं हैं। परंतु इन गीतों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन गीतों में प्रचार की भावना अधिक है। जनप्राणों का तादात्म्य नहीं है। संभवत: इसका कारण यही है कि जनता में राष्ट्रीय चेतना का वास्तविक स्वरूप आज भी नहीं आ सका है।

लोकगीतियों के आधार पर जनता की आर्थिक स्थिति का अधिक विश्लेषण नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि इन गीतों को जो स्त्रियां गाती हैं उनमें यह निश्चित नहीं है कि कौन किस वर्ग की हैं। इस विषय में केवल एक बात का उल्लेख किया जा सकता है कि जांत, रोपनी और निराई वाले गीतों में निम्न श्रेणी की कुछ अधिक आर्थिक ध्वनि हो सकती है। रोपनी और निराई करनेवाली स्त्रियों के गीतों में भी इस प्रकार की भावना नहीं मिलती जिसमें यह पुकार हो कि उनकी आर्थिक स्थिति कैसी है और उनके मन में उसके प्रति क्या भाव है। इन समस्त गीतों में प्रेम-वियोग, स्त्री की स्थिति, उसके आत्मगौरव तथा सतीत्व रक्षा की बात गाई गई है। इसके अतिरिक्त इसका प्रमुख कारण यह है कि ग्रामों में जीवन जिस प्रकार व्यतीत होता है उसमें आर्थिक विषमता ऐसी नहीं प्रकट होती जिससे किसी के मन में विद्रोह जाग्रत हो। साथ ही गायिका के मन की आदर्श भावना में खाने-पीने, रहने की तथा वस्त्राभूषणों की कल्पना इस रूप में सामने आती है जिससे कुछ स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता। वस्तुस्थिति से किस स्थल पर इच्छाओं की पूर्ति की कामना मिलजुल जाती है यह अलग नहीं जान पड़ता। जनगायिका सोने-चांदी की बात सहज भाव से कह जाती है, लाख सवा-लाख का उल्लेख बिना संकोच के कर देती है। वस्त्राभूषणों में रेशम, साटन के साथ सोने-चांदी के अनेक आभूषणों को गिना जाती है। ग्राम की गायिका के लिए सोने के थाल में मोती भरकर भिक्षा दे डालना कितना सरल है, यह उनकी भावनाओं की उन्मुक्त अभिव्यक्ति का परिणाम है क्योंकि अपनी आकांक्षा को किसी प्रकार का बंधन वे देना नहीं जानती। पुत्री छप्पन प्रकार का भोजन बनाना सीखे बिना विवाह नहीं करना चाहती। पिता अपने दामाद के लिए ऐसा बड़ा मकान बनवाना चाहता है जिसमें हाथी खड़े खड़े घुस सकें, ननद भावज से सोने का कंकण नेग में मांगती है। सोने के पलंग पर रेशम की तोशक और दुलाई लगाई जाती है। इस प्रकार इन गीतों में विपन्नता का उल्लेख नहीं के बराबर होता है। यदि कभी खाने-पीने के कष्ट की बात गायिका कहती भी है तो वह केवल ससुराल

के व्यवहार के कारण। इसका कारण यह नहीं है कि जनसमाज में आर्थिक विपन्नता है ही नहीं, वरन वे इस विपन्नता पर अधिक ध्यान नहीं देती, साथ ही जनगीतों में अपनी कल्पनाओं की तृप्ति ढूंढ़ती है। इससे यह भी प्रकट होता है कि आर्थिक दृष्टि से वर्गसंघर्ष की भावना जनगीतों में कम से कम अभी तक नहीं आ सकी है।

लोकगीतों में सबसे अधिक प्रसार मिला है सामाजिक जीवन को। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि इन गीतों में भावों की अभिव्यक्ति होती है और भावों की स्थिति सामाजिक वातावरण में ही अधिक है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इन गीतों की गायिका अधिकतर स्त्रियां हैं। वे सामाजिक संबंधों के प्रति जागरूक रहती हैं। साथ ही अधिकतर गीतों के अवसर सामाजिक उत्सवों तथा संस्कारों से संबंधित हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय जीवन में पारिवारिक जीवन की परंपरा के कारण भी इन गीतों का सामाजिक पक्ष अधिक प्रबल हो गया है।

भारतीय परिवार एक पूरी संस्था के रूप में है, उसका विस्तार होता है जिसमें पिता, पुत्र, सास, बहू, देवर, ननद, पति, जेठ, जेठानी आदि स्थाई सदस्य हैं। इनके अतिरिक्त अन्य संबंधी भी आते जाते हैं जैसे मामा, फूफा, मामी, मौसी आदि। इस प्रकार पारिवारिक जीवन सहिष्णुता का जीवन है। साथ ही शासन की व्यवस्था बहुत सुंदर नहीं जान पड़ती, इसमें अनेक दोष आ गए हैं। फिर भी भोजपुरी गीतों में कुछ ऐसे गीत हैं जिनमें पुत्री अपनी मां से अपनी ससुराल की तारीफ करती है। वह कहती है कि ससुर उसकी इच्छाओं की पूर्ति करता है, सास उसे काम नहीं करने देती, ननद उसे प्यार करती है और देवर आज्ञाकारी है, और अपने पति की तो वह आंखों की पुतली है। इससे प्रकट है कि अब भी भोजपुरी प्रदेश में सुखी पारिवारिक जीवन है। कभी कभी अपनी माता से आत्मसम्मान के कारण भी अपने ससुराल जाने की बात कहती है और कहती है कि उसे वहां कोई दुख नहीं है।

इस पारिवारिक जीवन में माता और पिता की स्नेहभावना से तो ये लोक-गीतियां ओत-प्रोत हैं। पुत्री का प्रेम भारतीय जीवन की सबसे करुण कथा है। पिता को पुत्री को अपने घर से बिदा करके दूसरे के घर भेज देना होता है। इस अवसर पर माता-पिता के हृदय की अवस्था का वर्णन इन गीतियों में बहुत ही भावुकता से हुआ है, क्योंकि उनको गाने वाली अधिकतर स्त्रियां ही होती हैं। परंतु कुछ गीतों में माता-पिता तथा मैके के लोगों के प्रति लड़की व्यंग्य भी करती है। वह कहती है कि जो धन मुझ पर तुम व्यय करती थीं, जो बासी रोटी मुझे खिलाती थीं—उसे बचाकर जोड़ लेना। इस मनस्थिति के दो कारण बताए जा सकते हैं। पहला तो लड़की को अपने पिता के घर से जाना पड़ता है, और वह समझती है कि वे उसे निकाल रहे हैं—ऐसी मनस्थिति में वह रहती है। दूसरी

बात यह है कि लड़कियों की विवाहसंबंधी कठिनाइयों के कारण तथा पुत्र को अधिक महत्व मिलने के कारण भी लड़कियों की अवहेलना परिवारों में होती है। सोहर और खेलावन के गीतों से यह प्रकट है कि स्त्रियों को पुत्र की आकांक्षा रहती है, उन्हीं के उत्पन्न होने पर प्रसन्नता मनाई जाती है। इसका कारण यह नहीं है कि माता को पुत्र से कुछ प्रसन्नता अधिक होती है, वरन परिवार वाले ही इस बात को महत्व देते हैं। फलस्वरूप अपनी अवहेलना से बचने के लिए स्त्रियां पुत्र की कामना अधिक करती हैं। बांझ होना तो बहुत बड़ा दुख का कारण इन गीतों में माना गया है। स्त्रियां इतनी उत्सुक और व्यग्र हैं कि इस संतानप्राप्ति के लिए वे क्या नहीं करना चाहतीं। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि धर्म का यह रूप कितनी दूर तक इस समाज को प्रभावित कर सका है।

आगे चलकर भी पुत्री के किसी अन्य संस्कार का कोई उल्लेख नहीं आता है। जनेऊ के गीतों के अंतर्गत बालकों के कई संस्कारों का उल्लेख आता है जो आजकल एक साथ कर दिए जाते हैं। पुत्री के विवाह के लिए पिता को और कभी कभी भाई को भी कितनी चिंता, और श्रम उठाना पड़ता है और कितना अपमान सहना पड़ता है—यह इन गीतों में स्पष्ट है। पिता के मन को यह बात सदा दुख देती है कि बेटी के कारण मुझे अपना सिर झुकाना पड़ेगा। कुछ गीतों में पुत्री अपने पिता को वर खोजने में आलस्य करने के कारण उलाहना देती है। पुत्री अपने पिता को अल्पवयस्क और वृद्ध से विवाह कर देने के लिए भी उलाहना देती है। वह कुछ स्थानों पर सुंदर वर खोजने के लिए भी पिता से आग्रह करती हैं। इससे यह नहीं प्रकट होता कि किसी समय पुत्रियां अपने पिता से वास्तव में इस प्रकार अपनी इच्छा प्रकट करने में स्वतंत्र थीं। वरन इसका अर्थ यह है कि नारी के मन में इन सब बातों के प्रति जो विद्रोह है उसी की अभिव्यक्ति वे इस प्रकार से करती हैं।

विवाह के समय वरपक्ष वालों के बुरे व्यवहार का यत्र-तत्र वर्णन मिलता है। साथ ही पुत्री के पिता की नम्रता का उल्लेख भी स्थल स्थल पर हुआ है। इन्हीं कारणों से पुत्रीजन्म पर पिता के शोक का अर्थ स्पष्ट होता है। पिता के लिए पुत्री का विवाह ग्रहण के समान कहा गया है और वह उससे छूटने के लिए व्याकुल है। पुत्री की विदा के अवसर पर पिता-माता के दुख का दृश्य बहुत द्रावक होता है। निष्ठुर माता और निर्मोही पिता भी पुत्री के विलाप से द्रवित हो उठते हैं। भाई साथ जाता है अपनी बहिन को लिवा लाने के लिए। इस अवसर पर यह प्रकट किया गया है कि भावज के अतिरिक्त सभी पुत्री के विदा के अवसर पर दुखी हैं। पर किसी किसी गीत में भावज भी अपनी ननद के बिना अपनी रसोई को सूना पाती है।

भाई-बहन के प्रेम का उल्लेख इन गीतों में अनेक स्थल पर है। बहन को अपने भाई पर बहुत अधिक विश्वास है। बहन भावज के व्यवहार से तो असंतुष्ट हो

जाती है, पर भाई से नहीं। भाई जब उसके घर पहुंच जाता है तब वह किसी न किसी प्रकार उसका स्वागत करती है। भाई भी अपनी बहन का विशेष ध्यान रखता है, वह अपनी बहन के दुख से अधिक दुखी होता है।

ससुराल में सभी को बहुधा कष्ट सहन करने पड़ते हैं। और इन गीतों की गायिकाओं ने बड़े ही करुण स्वर से सास के अत्याचारों की कठोरता का वर्णन किया है। ननद भी अधिक निष्ठुर है, जठानी ईर्ष्या करती है। कभी कभी देवर को सदय चित्रित किया गया है। वहां के कष्टों से आकुल होकर आत्महत्या करने को सोचती है। यह कैसी विचित्र बात है कि स्त्री ही स्त्री को इतना कष्ट देती है, वह किसी परिवार की पुत्री है तो किसी परिवार की बहू, एक बार बहू तो वही सास भी लेकिन फिर भी यह ऐसा ही चला आता है। पारिवारिक जीवन का यह कैसा बड़ा अभिशाप है—कदाचित अन्य प्रदेशों की भांति ही भोजपुरी प्रदेश की भी वही स्थिति है।

प्रेम के संबंध में ग्रामगीतों में उन्मुक्त और स्वतंत्र प्रेम का उल्लेख मिलता है। परंतु भारतीय जीवन में उन्मुक्त प्रेम को कभी स्वीकृति नहीं मिल सकी। यही कारण है इन गीतों में स्वतंत्र प्रेम को एक-आध स्थल पर अधिक से अधिक क्षम्य माना गया है। उसकी प्रशंसा तो कहीं नहीं मिलेगी। प्रेम विवाह के बाद ही स्वीकार किया गया है। प्रेम के इस रूप को स्वीकृति देने के लिए अकसर पति-पत्नी के अज्ञात प्रेम की बात कही गई है। इस प्रकार प्रेम को जीवन में विवाह का अनुवर्ती ही होना पड़ा है—केवल स्वतंत्र प्रेम की भावना को तृप्ति देने के लिए कुछ कल्पनाएं की गई हैं; जिनमें राधाकृष्ण के चरित्र की अवतारणा और पति का छिपकर आना आदि हैं। अन्य प्रकार के स्वतंत्र प्रेम को अच्छी दृष्टि से इन गीतों में नहीं देखा गया है। ऐसी स्त्री को कुलटा की उपाधि दी गई है और ऐसी प्रेमी को सती नारियों की डांट सहनी पड़ी है।

सतीत्व का आदर्श इन गीतों का प्राण है। पत्नी अपने पति के वियोग से व्यथित है, उसकी विरहव्यथा तो इन गीतों को अनुप्राणित ही करती है। पर साथ ही सतीत्व का दर्प भी इन नारियों में विशेष है। अपने पति के यह कहला भेजने पर कि वह विदेश से नहीं लौटेगा—तुम दूसरा विवाह कर लो—पत्नी इस पर अधिक क्षुब्ध होकर भी सती रहने का निश्चय करती है। अन्य अवसरों पर प्रलोभनों को ठोकर मारकर नारी अपने सतीत्व के गौरव की रक्षा करती है। सतीत्व की भावनासंबंधी कुछ कथागीतियां भी इस प्रदेश में प्रचलित हैं जिनमें सतियों की गौरवगाथा का वर्णन है।

परंतु इन लोकगीतियों में सतीत्व की भावना के साथ आत्मगौरव भी नारियों में पाया जाता है। जो आत्मसमर्पण की पराकाष्ठा हमको साहित्य में मिलती है वह इन गीतों में नहीं पाई जाती। इन गीतों में नारियों के आत्मगौरव का जो

परिचय दिया गया है वह वास्तव में एक विशेष वस्तु है। एक स्त्री का पति जब उससे दूसरा पति कर लेने को कहला भेजता है तो वह क्रुद्ध होकर उत्तर देती है, तुम्हारी बहन दूसरा पति कर ले (मैं क्यों करूं)। पति, तेरे ऐसे आदमी को तो मैं अपना ड्योढ़ीवान या पहरेदार रख सकती हूं। इस प्रकार के कठोर उत्तर ऐसे पतियों को स्त्रियां देती हैं।

सीतानिर्वासन प्रसंग को लेकर लोकगीतियों में नारी के आत्मगौरव की बात बहुत स्पष्ट है। राम सीता की परीक्षा लेते हैं; सीता चुपचाप परीक्षा देती जाती हैं, पर अंत में राम की निष्ठुरता पर शोक करती हुई पृथ्वी में समा जाती हैं।
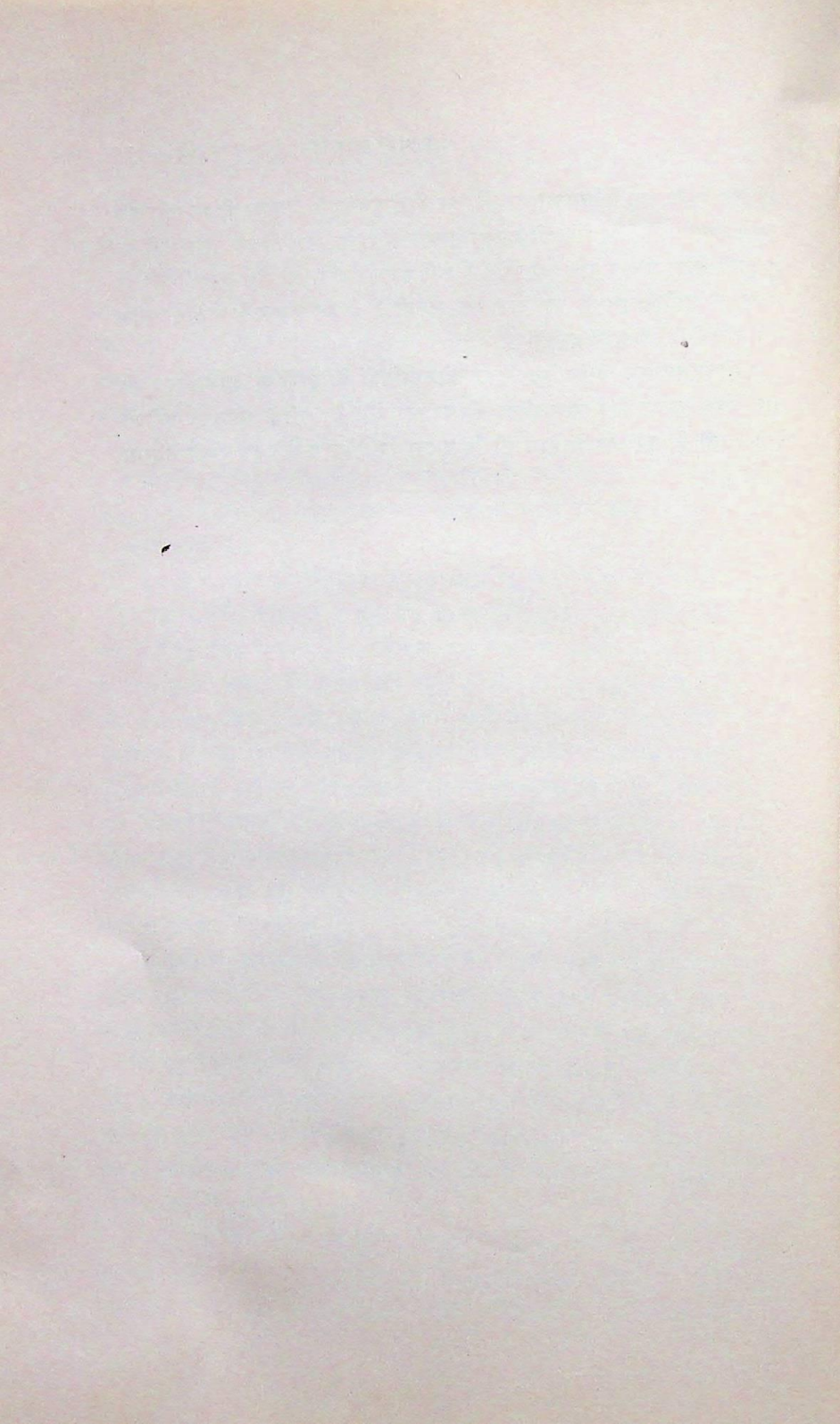
प्रकीर्ण

हमारा उपन्यास : परिवेश और भारतीयता

उपन्यासकला के विकासक्रम में लोककथाओं के कल्पनाविलासी तत्वों का योग अवश्य रहा है। रहस्य, कौतूहल, संयोग, रोमांस, साहसिकता और कल्पनाविलास आदि तत्व अनेक रूपों में औपन्यासिक रचनाविधान को विकसित करने में सहयोगी रहे हैं। परंतु साहित्य में कथा के उस रूप की स्वीकृति के साथ इसका आधार जीवन और उसका यथार्थ होता गया है। जीवन के गहरे लगाव के बिना साहित्य संभव नहीं होता, जिस प्रकार रचना उसकी पहली रति है।

इस यथार्थ के अंतर्गत 'है' और 'होना', 'अस्ति' और 'संभावित' दोनों को समेटा जा सकता है। यूनानी चिंतकों ने संभावित को सर्जन में अत्यधिक महत्व दिया था, इसका कारण यही है कि रचनाक्रम में 'है' भी 'होने' में, 'अस्ति' भी 'संभावित' में परिणत हो जाता है। फिर भी विषय की वस्तुरूप-रचनाक्रम की उद्भावना को इन दो स्तरों पर स्वीकार किया जा सकता है। एक ओर हमारा ऐतिहासिक अतीत है और भविष्य को आत्मसात करनेवाला संभावनाओं का जीवन है और दूसरी ओर हमारी स्थितियों-परिस्थितियों का प्रत्यक्ष यथार्थ जो अपनी देश-कालगत सीमाओं को निर्धारित करते हुए परिवेश का रूप ग्रहण कर लेता है। कहते हैं कि हम अपने वर्तमान के बिंदु से गत और आगत को निरूपित और व्याख्यायित करते हैं। परंतु इस कारण वे अर्थात संभावित के ये रूप परिवेश के अंग नहीं हो सकते; क्योंकि इस प्रक्रिया में वे हमारे समसामयिक बोध के अंतर्गत आ जाते हैं।

उपन्यासकार के लिए परिवेश का महत्व है, एक प्रकार से वह उसका आधार है। वह न केवल अपनी रचना का सारा कच्चा माल वहां से जुटाता है, वरन अनुभव के विभिन्न स्तरों के बीच से अपनी रचनादृष्टि विकसित करता है। हिंदी के प्रारंभिक उपन्यासकार बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवासदास, लज्जाराम मेहता ने जिस स्तर पर अपने सामाजिक परिवेश से यथार्थ को ग्रहण किया था, उनकी औपन्यासिक कला का स्तर भी वही है। उनमें सामाजिक समस्याओं की मात्र जागरूकता देखी जाती है, और इसी कारण उनके उपन्यासों में स्थूल घटनाओं और चरित्रों को जुटाकर उपन्यास बनाने की चेष्टा है।

लेकिन एक लेखक के लिए परिवेश उसका सारा वह जीवन है जो वस्तुतः उसके युग का रूप है। समस्त स्थानीय, देशीय, राष्ट्रीय और यहां तक कि अंतर्राष्ट्रीय घटनाक्रम उसका परिवेश हो सकता है। जितना कुछ उसके अनुभव

के अंतर्गत वर्तमान देशकाल में समेटा जा सकता है, उसे परिवेश माना जा सकता है। किसी भी दृष्टि, शैली या स्तर का लेखक अपने परिवेश से मुक्त होकर यथार्थ जीवन का उपन्यासकार नहीं हो सकता। यह जरूर है कि वह उसका इस्तेमाल अलग अलग ढंग से अर्थात अपने निजी और विशिष्ट ढंग से करता है।

बिना विस्तार में गए यहां यह कह देना आवश्यक है कि लोककथाओं के कल्पनाविलास के समान जीवन के यथार्थ में उसका निजी आकर्षण होता है (इस विषय का विवेचन अन्यत्र किया गया है)। पर उपन्यासों में इस आकर्षण से मुक्त होकर रचनात्मक प्रभाव उत्पन्न करना ही अपेक्षित है। परंतु औपन्यासिक कला के सशक्त प्रयोग के पहले की कई ऐसी लेखनश्रेणियां हमारे उपन्यासों की मिलती हैं जिन्होंने कमोबेश यथार्थ के इस आकर्षण का इस्तेमाल किया है, परिवेश की उद्भावना और वातावरण की सृष्टि में उन्होंने कलात्मक उत्कर्ष पाने की चेष्टा की है। जिस सीमा तक उनके उपन्यासों में परिवेश का सजीव और आकर्षण वर्णन आ सका है, उन्हें सफलता मिली है।

परिवेश की उद्भावना हमारे उपन्यासों में कई रूपों में हुई है। प्रारंभिक उपन्यासों की स्थूल सामाजिक समस्या से आगे बढ़कर प्रेमचंद के पहले के उपन्यासकारों ने परिवार और समाज के परिवेश में समस्याओं को देखने की चेष्टा की है। पर समस्याओं की जागरूकता के कारण परिवेश संघटित नहीं हो पाता। प्रेमचंद (और उनके समसामयिक उपन्यासकारों में भी यह स्थिति मिलने लगती है) ने सर्वप्रथम सामाजिक और राजनीतिक परिवेश को सजीव रूप में निर्मित करने का प्रयत्न किया है। उसके माध्यम से कहानी कहने की कला प्रेमचंद को आती है, पर वह अपने अपेक्षया सफल उपन्यासों में क्रमशः इस परिवेश की मानवीय परिस्थितियों और संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के द्वारा समसामयिकता के बोध तक पहुंच सके हैं।

उपन्यासकार अपने रचनाक्रम में परिवेश के यथार्थ का अतिक्रमण करता है। परंतु इस स्तर पर वह अपने व्यापक और संपूर्ण परिवेश को समग्रता के साथ ग्रहण कर गहरी संसक्ति के साथ अभिव्यक्त करता है। कभी उपन्यासकार इसे आत्मसात कर इसके सूक्ष्म और जटिल संदर्भों के आधार पर वैयक्तिक अनुभवों और संवेदनाओं से रचना करता है। यह समसामयिकता के रचनात्मक बोध का स्तर है। प्रेमचंद में इस बोध की झलक मिल जाती है और रचनाशिल्प की अपनी समस्त कमियों तथा कमजोरियों के बावजूद हिंदी उपन्यासों में उनकी स्थिति का कारण भी यही है, यद्यपि परिवेश के यथार्थ का अतिक्रमण वह कभी नहीं कर सके। भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, अमृतलाल नागर, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि अनेक उपन्यासकारों ने इसी प्रकार परिवेश के यथार्थ को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उनमें भगवतीचरण कथाकार अधिक हैं और उपेन्द्रनाथ में यथार्थ

का आग्रह अपने आकर्षण-विकर्षण के साथ है।

आवश्यक नहीं कि किसी क्षेत्र या वर्गविशेष के परिवेश को या राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय परिवेश को उपन्यास में अभिव्यक्ति मिले। वरन समसामयिक बोध के रूप में व्यापक संदर्भों के बीच से जीवनगत अनुभवों को रचनात्मक स्तर प्रदान किया जा सकता है। इस प्रकार वैयक्तिक और विशिष्ट अनुभव परिवेश से अलग लगने पर भी रचनात्मक स्तर पर समसामयिकता बोध से जुड़े रहते हैं। जैनेन्द्र और अज्ञेय जैसे उपन्यासकारों का रचना का स्तर बहुत कुछ यही है। इधर के नए उपन्यासकारों में जिनके नाम अधिक सामने आते हैं, परिवेश के यथार्थ के मार्मिक, जटिल और सूक्ष्म अंकन की प्रवृत्ति ही अधिक है। अत्याधुनिक लेखक ने इस यथार्थ के अतिक्रमण की चेष्टा में सीमित, निजी और विकृत यथार्थ के परिवेश का आकर्षण और व्यामोह उत्पन्न किया। आज के ये उपन्यासकार रचना के इसी स्तर पर अपने को आधुनिक और नए कहे जाने का दावा पेश करते हैं।

ऊपर रचनाप्रक्रिया में परिवेश के यथार्थ के अतिक्रमण की बात कही गई है, उसका मतलब किसी दिशा में उससे पलायन नहीं है। वरन उपन्यासकार का व्यक्तित्व और सीमित परिवेश इस स्तर पर अधिक व्यापक, मानवीय, सर्वग्राह्य, सघन, सूक्ष्म और संवेदनशील हो जाता है। पर यह होता है रचना की निजी और विशिष्ट प्रक्रिया से ही। आज का हमारा उपन्यासकार एक तो अपने परिवेश की निजी सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर पाता, अतः अपने परिवेश के व्यापक मानवीय अनुभवों को समसामयिकता के बोध के रूप में अभिव्यक्त करने में प्रायः चूक जाता है। दूसरे यदि वह कहीं वैयक्तिक अनुभव को सूक्ष्म और संवेदनीय बना भी सका तो किसी रचनादृष्टि के अभाव में व्यापक मानवीय संदर्भों से जुड़ने के बजाय यथार्थ की विकृतियों को विशिष्टता प्रदान कर पाता है। इस प्रकार इन दोनों स्तरों पर सफल रचनात्मक उपलब्धि होने से रह जाती है।

वस्तुतः उपन्यासरचना के उच्चतम स्तर पर समसामयिकता के रचनात्मक बोध के साथ एक दृष्टि की मांग अनिवार्यतः की जाती है। यदि मूल्य को किसी निश्चित, स्थापित और जड़ मान्यता के रूप में न लिया जाए, जो कि गलत भी है, तो इसे मूल्यदृष्टि कहना गलत नहीं होगा। साहित्य में आधुनिकता की समस्या नए-पुराने, नगर-गांव, पश्चिम-पूर्व की नहीं है और न उसे महानगरों के खास प्रकार के जीवन और उसकी जटिलताओं से जोड़ा जा सकता है। इसे आज की एक खास रचनादृष्टि माना जा सकता है, अतः इसे आज के साहित्य की मूल्यदृष्टि भी मान सकते हैं। वैसे तो किसी भी युग का उच्चतम और क्लासिकी साहित्य वही होता है जो उस युग के मूल्यों की प्रक्रिया को सर्जनात्मक स्तर पर गतिशील कर सके। पर आज के लेखक में सामान्यतः अपने परिवेश की अधिक चेतना है, वह समसामयिकता के बोध के प्रति अधिक जागरूक है और अपनी

रचनाप्रक्रिया के प्रति अधिक सजग है। यही कारण है कि आधुनिकता की रचना-दृष्टि, जो मूल्यदृष्टि है, सर्जनात्मक स्तर पर आज के बिलकुल नए संदर्भों में मूल्यों को रच रही है। इसके अंतर्गत मूल्यों का विघटन, उनकी संक्रांति, उनका अस्वीकार, मूल्यविहीनता, मूल्यनिरपेक्षता सब कुछ आ जाता है। किसी भी दृष्टि के अभाव में अमृतलाल नागर का 'बूंद और समुद्र', यशपाल का 'झूठा-सच' जैसे व्यापक कैनवास और परिवेश के उपन्यास सफलतापूर्वक और सजीवता के साथ समसामयिक जीवन को अंकित करने के बाद भी संसार के प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में स्थान नहीं बना सके। दृष्टि को अन्वेषित करने के प्रयत्न के कारण ही अपनी अन्य अपरिपक्वताओं के बावजूद प्रेमचंद के उपन्यासों को महत्व प्राप्त है। जैनेन्द्र और अज्ञेय के उपन्यासों का स्तर अपेक्षया अधिक ऊंचा लगने का कारण भी यही है कि उनमें रचना की एक दृष्टि है। ऊपर के अर्थों में आधुनिक रचना-दृष्टि अज्ञेय के 'अपने अपने अजनबी' में देखी जा सकती है।

सामान्यत: हमारा अतीत अर्थात हमारी ऐतिहासिक परंपरा और हमारी वर्तमान परिस्थिति अर्थात आज का हमारा परिवेश ही हमारे देश-काल के रूप में हमारी भारतीयता है। इसी कारण कभी अतीत के किसी युगविशेष या किन्हीं निश्चित मूल्यों से बांध कर भारतीयता की व्याख्या की जाने की प्रवृत्ति देखी जाती है अथवा वर्तमान की सारी अगति और पिछड़ेपन के प्रतीक रूप में भारतीय को स्वीकार कर लिया गया है। एक से चिपके रहने का आग्रह किया जाता है तो दूसरे से मुक्त होकर आधुनिक बनने के आग्रह में नकली पश्चिमी बनने-बनाने का प्रयत्न किया जाता है। हमारे ऐतिहासिक उपन्यासों में अतीत को व्यंजित करने का प्रयत्न जरूर है, पर अतीत अपने आप में कोई बोध नहीं है, जब तक कि उसे रचना के स्तर पर कोई मूल्यदृष्टि न दी जाए। जहां तक कि वर्तमान परिस्थिति का सवाल है, वह हमारे उपन्यासों का परिवेश है। पश्चिमीकरण के आकांक्षी इस परिवेश से बचना चाह सकते हैं, पर इस देश के उपन्यासकार के लिए यह संभव नहीं, क्योंकि उसकी रचनादृष्टि तो उसी से विकसित होती है।

हमारे लिए भारतीयता का सवाल मात्र अपने अतीत से कटने-जुड़ने का सवाल नहीं है और न वर्तमान को स्वीकारने-अस्वीकारने का है। एक हमारी परंपरा है और दूसरा हमारी परिस्थिति है। जो है उसके बारे में बहस करना बेमानी है। एक हमारे व्यक्तित्व का अंग है और दूसरा हमारे अनुभव का रूप है। यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि सारा का सारा अतीत यानी इतिहास और सारा का सारा वर्तमान यानी परिस्थिति। परंतु इन रूपों में भारतीयता का कोई अनुभावन नहीं हो सकता। उपन्यास के रचनात्मक स्तर पर ही नहीं, जीवन के स्तर पर भी भारतीयता की सार्थकता तभी मानी जा सकती है जब वह रचनात्मक मूल्यबोध के रूप में ग्रहण की जा सके। यह कहना मुश्किल है कि इसमें अतीत का कितना

कुछ आता है और वर्तमान परिस्थिति का परिवेश कहां तक माना जा सकता है।

भारतीयता के अंतर्गत परंपरा की सारी गतिशील धारावाहिकता आती है जो हमारे व्यक्तित्व के माध्यम से वर्तमान परिस्थिति के व्यापक परिवेश को जोड़ती है। परंपरा के उन समस्त सांस्कृतिक संदर्भों को खोजना अपने व्यक्तित्व की खोज है और मौलिक रचनाशीलता में गतिशील होने के लिए अपने आप की खोज पहली और अनिवार्य शर्त है। इस दिशा में आत्म-साक्षात्कार और आपसी संघर्ष तथा चुनौतियां, दोनों से गति मिल सकती है। अत: पश्चिमी आधुनिक संस्कृति के संपर्क और संघात को इसी स्तर पर अपनी रचनाप्रक्रिया में ग्रहण कर सकते हैं। यह स्पष्ट है कि आरोपण और अनुकरण से रूप खड़ा किया जा सकता है, पर रचना नहीं हो सकती है।

अत: आज हमारी भारतीयता का अर्थ है, अपनी सांस्कृतिक परंपरा के साक्षात्कार के साथ वर्तमान परिस्थिति के समग्र समसामयिक बोध को विकसित करना और इस स्तर पर पश्चिम की आधुनिकता की सारी चुनौतियों को स्वीकार कर अपने देश और समाज के जीवन को रचनात्मक गति देना। निश्चय ही भारतीयता का अनुभावन रचनात्मक मूल्यबोध स्तर से संपृक्त है। अत: पुराना या नया, पूर्वी या पश्चिमी, मध्ययुगीन या आधुनिक कोई भी मूल्य, आदर्श या मान्यता द्वारा हमारी भारतीयता को निरूपित या व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। स्वत: पश्चिम की आधुनिक संस्कृति रचनात्मक मूल्यबोध से गुजरती आई है और आज भी समस्त विघटन और संक्रांति के बावजूद अपने जीवन को रचनात्मक दिशाएं प्रदान करने के लिए कृतसंकल्प है। परंतु पश्चिम की यह रचनात्मक दृष्टि और उसका मूल्यबोध हमारी रचनात्मक दिशाओं का संकेत हमें नहीं दे सकता। वह हमारे लिए चुनौतियां प्रस्तुत करता है। हम अपनी परंपरा के बीच अपने निजी व्यक्तित्व की खोज करते हुए इन चुनौतियों के बीच से जिस नई रचनात्मक मूल्यदृष्टि को नए सिरे से निरूपित-व्याख्यायित करने के लिए संलग्न हैं, वही हमारी भारतीयता की व्याख्या करती चलेगी।

इस स्तर पर उपन्यासों का भारतीयता से संबंध रचनात्मक मूल्यबोध के आधार पर विवेचित किया जा सकता है। अत: भारतीयता को उपार्जित और उपलब्ध करने की दिशा में केवल उन्हीं उपन्यासकारों का योग माना जाएगा जो अपने उपन्यासों में किसी न किसी स्तर पर अपने युग की इस रचनात्मक प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में संलग्न हैं। उन्होंने परंपरित और पश्चिमी मूल्यों की चुनौती को एक साथ स्वीकार किया है। अपने युग की मूल्यगत विभ्रांति, विघटन और संक्रांति का केवल साक्षात्कार जिनके उपन्यासों में नहीं मिलता, वरन् इन सबके बीच से जिन्होंने व्यापक रचनादृष्टि को विकसित करने का प्रयत्न किया है। परंतु सवाल है कि वे उपन्यासकार कौन हैं?

इसके पहले कि इस संबंध में स्पष्ट संकेत किया जाए, उपन्यास और भारतीय परिवेश के बारे में कुछ कहना आवश्यक है। प्रारंभ में ही कहा गया है कि युग के यथार्थ के रूप में परिवेश से उपन्यासकार मुक्त नहीं हो सकता। परंतु सवाल उठता है कि क्षेत्र, प्रदेश, परिवार और समाज के जिस खंड के रूप में इन उपन्यासों में परिवेश ग्रहण किया गया है, उसमें भारतीय परिवेश का अनुभावन कहां तक हो सका है! भारत बहुत बड़ा भूखंड है, इसमें अनेक प्रदेश, अनेक भाषाओं, अनेक जातियों और विभिन्भ संस्कृतियों का अंतर्भाव है। देश-काल के स्तर पर भारतीय परिवेश का बोध करा पाना आसान काम नहीं है। परंतु उसका एक कारण यह भी रहा है कि आज का भारतीय मानस अपनी भाषाओं के माध्यम से जुड़ने के बजाय विदेशी भाषा से मिलने की चेष्टा करता है। इस सतही प्रयास से सारा भारतीय मानस समग्र रूप से अपने को अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहा है। इसके अतिरिक्त विदेशी भाषा विदेशी जीवन और विदेशी संस्कृति से हम इस सीमा तक आर्कषित और पराभूत रहे हैं कि हमको अपने देश के विस्तृत भूभागों, व्यापक जीवन और स्थानीय सांस्कृतिक विशिष्टताओं ने आर्कषित नहीं किया।

ऊपर के अर्थ में अधिकांश उपन्यासकारों के लिए भारतीय परिवेश को प्रस्तुत कर पाना संभव नहीं हो सका। संभवतः सारे भारतीय उपन्यासों में से बहुत कम में ऐसा परिवेश निर्मित हो सका है जिसमें क्षेत्रीय या प्रादेशिक के स्थान पर भारतीय देश-काल का बोध है। अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' में देश के सुदूरवर्ती भूभागों में कथानक जाता जरूर है, पर इस रचना के आभिजात्य में किसी व्यापक भारतीय परिवेश का संस्कार नहीं आ सकता था। इसी प्रकार इधर के उपन्यासकार महानगरों के विशिष्ट जीवन और अनुभवों को अंकित कर रहे हैं। कहा जा सकता है कि इन नगरों में सारे भारत के जीवन का प्रतिनिधित्व है। पर सवाल उठता है कि क्या यह प्रतिनिधित्व भारतीय जीवन या परिवेश का है।

इनके विपरीत प्रेमचंद और ताराशंकर जैसे उपन्यासकारों ने अपने प्रदेशों के ग्रामीण जीवन के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक आंदोलनों, परिवर्तनों और संक्रांतियों को ऐसी व्यापक भूमिका पर अंकित किया है, जिसमें भारतीय परिवेश व्यंजित हो गया है। परंतु यह समसामयिकता का बोध है जो इन उपन्यासों के प्रादेशिक परिवेश को व्यापकता प्रदान करता है। और मुख्यतः इस प्रकार के उपन्यासों की विशिष्टता रचनात्मक स्तर पर समसामयिकता के अनुभव को संघटित करने में है। इस अनुभव को संघटित करने में रचनाकार की दृष्टि में परिवेश की सीमाएं विस्तार पा जाती हैं। इस बिंदु पर क्षेत्रीय, राष्ट्रीय यहां तक कि अंतर्राष्ट्रीय परिवेश अपनी सारी जीवनपद्धतियों और समस्याओं के साथ युगबोध के रूप में व्यंजित होता है।

इस स्तर पर उपन्यासकार किन्हीं विशिष्ट घटनाओं, परिस्थितियों, चरित्रों

के माध्यम से अपने रचनात्मक अनुभव को व्यापक संदर्भों से जोड़कर व्यापक युगीन अनुभव के रूप में व्यंजित करता है। अपने अपने ढंग से 'झूठा सच', 'मैला आंचल', 'यह पथ बंधु था', 'अंधेरे बंद कमरे' और 'अलग अलग वैतरणी' के लेखकों ने इस अनुभव को संघटित करने का प्रयत्न किया है। और जिस उपन्यासकार को अपने युग की व्यापक संवेदना को अपने स्वीकृत परिवेश में व्यंजित करने में जितनी सफलता मिली है, वह उतना ही भारतीयता के निकट जान पड़ता है और संभवतः उसे सफलता भी उसी अनुपात में मिल सकी है। पर यह भी स्पष्ट है कि इस रचनात्मक स्तर पर ऊपर के अर्थ में भारतीयता की कोई रचनात्मक मूल्यगत व्याख्या संभव नहीं हो सकी।

भारतीयता की इस रचनाप्रक्रिया को केवल उन उपन्यासों में देखा जा सकता है जिन्होंने अपने राष्ट्रीय व्यक्तित्व की खोज के लिए परंपरित मूल्यों का आंतरिक संघर्ष झेला है, पश्चिम की आधुनिक संस्कृति के संघात को धारण करते हुए उसकी चुनौतियों को स्वीकारा है। और फिर इन उपन्यासकारों ने अपने नए अन्वेषित व्यक्तित्व के माध्यम से पश्चिमी आधुनिक मूल्यों से मुकाबला और संघर्ष करते हुए अपनी रचनादृष्टि ही नहीं पाई है, वरन मूल्यप्रक्रिया को भी गतिशील किया है। इस स्तर के भारतीय उपन्यासों का एकाएक नाम ले पाना कठिन है, मेरी जानकारी की सीमा तो है ही, पर संभवतः इनकी संख्या भी कम है। रवीन्द्रनाथ के 'गोरा', शरतचंद्र के 'शेष प्रश्न', प्रेमचंद के 'रंगभूमि' और अज्ञेय के 'अपने अपने अजनबी', ताराशंकर के 'आरोग्य निकेतन' आदि कुछ उपन्यास याद आते हैं। पर यह कह सकना यहां कठिन है कि इन अथवा ऐसे ही अन्य उपन्यासों ने संघात और संघर्ष को किस सीमा तक अभिव्यक्ति प्रदान की है और किस सीमा तक ये नई भारतीय मूल्यप्रक्रिया को गतिशील कर सके हैं। जहां तक हिंदी के आधुनिक उपन्यासकारों का सवाल है, उनमें समय की सांस्कृतिक चुनौतियों का एहसास नहीं है। प्रायः लगता है कि वे अपने सीमित परिवेश के दबाव के प्रति इतने सजग हैं कि अपने समसामयिक बोध की व्यापक मानवीय परिस्थिति के प्रति निरपेक्ष हो गए हैं। और जहां तक इस बोध के अंदर से किसी रचनात्मक मूल्यदृष्टि को विकसित करने का सवाल है, वे उसके प्रति उपेक्षाशील भी हैं।

परंतु अनुभव करता हूं कि आज हमारे उपन्यास के सामने सबसे बड़ी चुनौती है रचनाशीलता की, यानी कि वह कलात्मक हो और आधुनिक रूप में रचनात्मक हो। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि केवल परिवेश का मार्मिक जटिल, सूक्ष्म और विषम अंकन किसी कृति को श्रेष्ठ नहीं बना पाता। वह रोचक, आकर्षक और सफल हो सकता है। इसी प्रकार समसामयिक बोध की व्यंजना करने के बाद भी उपन्यास महानता की कोटि में पहुंचने से चूक गया है। इसका अर्थ हुआ कि उपन्यास की रचना में एक दृष्टि, एक मूल्यदृष्टि की अपेक्षा रहती

है, जो कोई निरूपित, स्थापित, स्वीकृत मूल्यबोध न होकर मूल्यबोध का नैरंतर्य मात्र है। वह रचना के साथ नहीं, वरन रचना की ही आंतरिक क्षमता, मूल्यवत्ता है। हमारे संदर्भ में यही भारतीयता है, जिसकी व्याख्या मूल्य के स्तर पर ऐसा उपन्यासकार स्वतः करता चलेगा। उसे जागरूक होकर, निर्णय लेकर कुछ नहीं करना होगा, केवल अपने आप को एक विराट प्रक्रिया का वाहक भर बनाना है। जिस प्रकार रचनाशीलता के लिए न आंचलिकता की सीमा है और न अंतर्राष्ट्रीयता का निषेध है, उसी प्रकार इस भारतीयता से इन दोनों का कोई विरोध नहीं है, वरन इसके अंतर्गत दोनों आत्मसात हो जाते हैं।

साहित्य का प्रगतिशील मानदंड

आज हम इस प्रश्न को क्यों उठा रहे हैं ? अनेक बार प्रश्न के उठते ही ऐसा जान पड़ता है कि यह कोई प्रश्न नहीं है। लगता है कि बीसवीं शताब्दी के इस आठवें दशक में यह प्रश्न बिल्कुल थोथा है। परंतु संभवत: इस विषय को लेकर ही साहित्य में सबसे अधिक उलझन और अस्पष्टता है। अनेक बार 'जन' शब्द के समान जन-वादी साहित्य के अर्थ को अत्यंत व्यापक अर्थ में लिया जाने लगता है और उस समय सामान्य जनता के लोक साहित्य के रूप में इसे स्वीकार करने का भ्रम किया जाता है। इस अतिव्याप्ति के विपरीत एक सीमा अव्याप्ति दोष की भी है, जहां पर कुछ विचारक साहित्य में प्राचीन आचार्यों के साधारणीकरण की व्याख्या इस रूप में करने का प्रयत्न करते हैं। परंतु साधारणीकरण साहित्य के अभिव्यक्त अर्थ को ग्रहण करने की प्रक्रिया है, जिसका संबंध विषयवस्तु से निर्धारित नहीं होता, जबकि प्रस्तुत प्रश्न का मंतव्य साहित्य की प्रयोजनीयता और विषयवस्तु से अनिवार्यत: संबद्ध है। अभिव्यक्ति का प्रश्न सभी स्तरों, वर्गों और कोटियों के साहित्य के विषय में समान रूप से लागू होता है। जो कुछ भी साहित्य में अभि-व्यक्त होता है, वह यदि कलाकृति हैं, तो निश्चय ही कोई पाठक या श्रोता वर्ग उस अभिव्यक्ति का लक्ष्य होगा। उस वर्ग के लिए वह कृति साधारणीकरण की सहज प्रक्रिया द्वारा ही अनुभव का विषय बन सकती है। पर, इससे एक तथ्य अवश्य हाथ लगता है कि साहित्य अभिव्यक्ति के रूप में ही मानवीय सहानुभूति के व्यापक और सहज तत्व को स्वीकार करता है। एक व्यक्ति का अनुभव दूसरे की अनुभूति का विषय तभी बन सकता है जब दोनों में कोई सामान्य भावभूमि हो। और साहित्य अपने ही युग के लिए नहीं युग युग के लिए अर्थवान हैं।

इस विषय में एक सामान्य भ्रम लोकप्रियता का भी है। कुछ लोगों का मत ऐसा जान पड़ता है कि जो लेखक जनता द्वारा जितना अधिक पसंद किया जाता है अथवा जिसकी कृतियों की जनता में जितनी अधिक खपत है वह उतना ही जन-वादी होगा, उदाहरण के लिए तुलसीदास और प्रेमचंद को लिया जा सकता है। ऊपर से यह मत जितना सीधा है, उतना ही खतरनाक भी है। पुस्तकों की बिक्री के आंकड़े रखने वाला फौरन टोक सकता है कि इस क्रम से तो ऐसे लेखक भी हैं जो प्रेमचंद से अधिक जनवादी लेखक सिद्ध हो सकते हैं और इस तर्क द्वारा 'रामचरितमानस' से तो किस्सा तोता-मैना कहीं अधिक जनवादी कृति सिद्ध हो सकती है। लेकिन इस विवाद में क्षणभर के लिए भी किसी को भ्रम नहीं होता। यहां एक तर्कपद्धति की अवतारणा की जा सकती है जो किसी के द्वारा अभी तक प्रस्तुत नहीं की गई है। भारतवर्ष का आज का समाज भी वर्गचेतना के उस स्तर

पर है जहां पर पौराणिकता का मोह बना हुआ है और ऐसी स्थिति में जब तक ऐतिहासिक क्रम में वर्गचेतना का विकसित स्तर यहां उपस्थित नहीं होगा उस समय तक जनता की रुचि का स्तर भी नहीं बदलेगा। पर हम यह निश्चित रूप से जानते हैं कि इतिहास के वैज्ञानिक व्याख्याकारों ने अलग अलग देशों में इतिहास के भिन्न युगों की कल्पना नहीं की है और न ऐसा संभव है कि इतिहास की गति को कोई चुपचाप शांत भाव से देखा करे कि द्वंद्वात्मक प्रक्रियाओं से हमारे सामाजिक जीवन में वर्गों की स्थिति अधिक स्पष्ट और तीखी हो रही है, उसके लिए सामंती वातावरण से पूंजीवादी शक्तियों का जन्म हो रहा है···। फिर अपने अंतर्विरोध की स्थिति से विनष्ट होती पूंजीवादी संस्कृति को ध्वस्त कर शोषित वर्ग अपनी शक्तियों को संगठित करने के लिए संघर्षशील है और जब यह सब हो जाएगा, तब जो साहित्य लिखा जाएगा वह जनता का अपना साहित्य होगा, जिसमें वर्गसंघर्ष और शोषित वर्ग की आशाओं और महत्वाकांक्षाओं का प्रतिबिंब होगा। परंतु जैसा कहा गया है यह तर्कपद्धति मात्र है, ऐसा स्वीकार करने का साहस तथा धैर्य किसी में नहीं है।

फिर लोकप्रियता जनसाहित्य का मानदंड नहीं हो सकती। उसके साथ किसी अन्य 'मान' को स्वीकार करना पड़ेगा। तुलसीदास का प्रश्न उठा था, इस कारण नैतिकता का प्रश्न भी उठाया जा सकता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने मर्यादा की दृष्टि से ही तुलसी को हिंदी का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित किया है। इस प्रकार लोकप्रियता के साथ नैतिक आचरण की मर्यादा को भी साहित्यिक 'मान' के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यहां पुनः दो प्रश्न उठते हैं। क्या साहित्य के लिए नैतिक मर्यादा अनिवार्य है? और यदि है तो क्या उसको शुद्धतावादी होना चाहिए? कठोर शुद्धतावादी दृष्टि से तो तुलसी की भी रक्षा करनी कठिन होगी, फिर कालिदास, शेक्सपियर और हिंदी के सूर की क्या स्थिति होगी? और साथ ही संसार के समस्त यथार्थवादी साहित्य की क्या परिणति होगी? सामान्य नैतिकता के विषय में भी यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि किस नैतिकता को साहित्य का 'मान' स्वीकार किया जाएगा। उसका दृष्टिकोण तो युग, समाज, देश और यहां तक कि विभिन्न वर्गों में अलग अलग स्वीकृत होता है।

इसके बाद जन की भावना के साथ साहित्य में कल्याण का प्रश्न उठता है। साहित्य में कल्याण की समस्या को अनेक स्तरों पर उठाया गया है, पर यहां 'जनकल्याण' का अर्थ ही प्रधान है। वस्तुतः जनतंत्र के अंतर्गत 'जन' शब्द को ही समस्त जनता के उस कल्याण अथवा हित का अर्थ दे दिया गया है, जिसे बहुसंख्यक स्वीकार भी करें। शायद साहित्य के क्षेत्र में राजनीति के इस अर्थ का विशेष महत्व नहीं है। परंतु इससे हम एक स्वाभाविक परिणाम तक पहुंच सकते हैं। साहित्य की प्रगतिशील व्याख्या ने जन शब्द को प्रमुखता प्रदान की है और 'जन' से

उनका अर्थ होता है जनता के उस वर्ग से जो शोषित है और जो भी संघर्ष द्वारा भविष्य के वर्गहीन समाज की नींव डाल रहा है। इस प्रकार यहां जनवादी साहित्य का अर्थ हुआ जाग्रत शोषित वर्ग के संघर्ष का तथा उसकी आकांक्षाओं का साहित्य। अगर बात यहीं समाप्त हो जाती तो समझना सरल था कि प्रत्येक साहित्य वर्ग का साहित्य है, और क्योंकि आज शोषित मजदूर-किसानों में जागरण है, वे अपनी आर्थिक स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे हैं, इसलिए इसी वर्ग के साहित्य को जनसाहित्य कहा जाएगा। परंतु इस सरल तर्कशैली की स्वाभाविक परिणति यह होगी कि साहित्य की पिछली परंपरा जनवादी साहित्य नहीं कही जा सकेगी और दूसरे इस प्रकार के वर्गों में विभाजित साहित्य के 'मान' का प्रश्न तो बना ही रहेगा। अन्यथा यह भी अनिवार्य परिणति स्वीकार की जाएगी कि आज के इस वर्ग का साहित्य ही एकमात्र उच्च साहित्य है, प्रगतिशील साहित्य है और पिछले युगों का साहित्य जो निश्चय ही श्रमिक वर्ग के विरुद्ध शासकवर्ग का साहित्य है तथा आधुनिक युग का वह समस्त साहित्य जो किसी न किसी रूप में इस वर्गसंघर्ष में श्रमिक जनता के पक्ष में नहीं है अथवा श्रमिक संस्कृति के निर्माण में सहायक नहीं है, ह्रासोन्मुखी साहित्य है, प्रतिक्रियावादी साहित्य है। इस प्रकार साहित्य का जनवादी होना मात्र एक साहित्यिक धारा का द्योतक न होकर उसका एक स्वतंत्र 'मान' भी प्रस्तुत करता है और यहीं साहित्यविवेचना की सबसे बड़ी कठिनाई उत्पन्न होती है। कठिनाई यह नहीं है कि मार्क्सवादी दृष्टि ने साहित्य की यथार्थवादी सामाजिक व्याख्या की है, वरन यह कि वह अपनी पद्धति में एक ऐसा 'मान' स्थापित करता है जिसके अनुसार 'साहित्य का श्रमिक जनता के जीवन के अनुसार सज्जित होना' अनिवार्य शर्त हो जाती है फलतः 'साहित्य का समाजवादी निर्माण और सामाजिक दीक्षा का सेवक'[1] बनना भी निश्चित है।

साहित्य और समाज के संबंध पर अनेक पूर्ववर्ती साहित्यशास्त्रियों और चिंतकों ने प्रकाश डाला है, उसे स्वीकार किया है। परंतु साहित्य की समाजवादी व्याख्या का एक अभूतपूर्व आधार प्रगतिशील विचारधारा ने प्रस्तुत किया है। साहित्यालोचन के क्षेत्र में उसका महत्वपूर्ण योग है। उनका दावा यह भी है कि व्याख्या की यह पद्धति साहित्य के वास्तविक 'मानों' को स्थापित करने में पूर्ण सफल हुई है। विचारशील व्यक्ति के लिए इसका मान लेना जरा कठिन है। मार्क्स तथा एंगेल्स ने अपने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के अंतर्गत कला, साहित्य आदि के विषय में पहली स्थापना की है कि समस्त मानवीय बौद्धिक जीवन उसके भौतिक जीवन की उत्पादनप्रणाली से नियमित होता है। मनुष्य की चेतना उसकी अवस्था का नियमन नहीं करती, वरन उसका अस्तित्व उसकी चेतना का नियमन करता है।[2] समाज के आर्थिक आधार (बेसिस) के साथ उस पर खड़े हुए प्रासाद (सुपरस्ट्रक्चर) का रूप भी कमोबेश बदलता जाता है, अर्थात मनुष्य का समस्त

चिंतन तथा सर्जन उसके अपने युग की स्थिति से निर्धारित है, और क्योंकि युग अपने समाज के उत्पादन संबंधी आर्थिक नियमों से शासित है, इस कारण सब कुछ सामाजिक वर्गों की स्थिति पर निर्भर हो जाता है। परंतु स्वतः मार्क्स ने 'उत्पादन की आर्थिक परिस्थितियों के भौतिक परिवर्तन तथा इन वैधानिक, राजनीतिक, धार्मिक, कलात्मक तथा दार्शनिक अर्थात समस्त बौद्धिक प्रक्रियाओं के बीच'[3] अंतर माना है। और इस विषय में फ्रेडरिक एंगेल्स ने भी स्वीकार किया है कि 'बौद्धिक चेतना आर्थिक जगत से जितनी दूर और शुद्ध कल्पनात्मक विचारधारा से जितनी निकट होगी, उतना हमें उसके विकास में आकस्मिक घटनाओं का आधिक्य दिखाई पड़ेगा और उतनी ही उसकी रेखा वक्र दिखाई देगी।'[4] आगे चलकर यह भी कहा गया है कि अनेक बार ये बौद्धिक प्रक्रियाएं अपने मौलिक नियम पर गतिशील होती हैं और सामाजिक संघर्षों के स्वरूपनिर्णय में भी प्रमुख भाग लेती हैं।[5]

स्पष्ट है कि द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के प्रथम आचार्यों के मन में कला तथा साहित्य संबंधी सांस्कृतिक उपलब्धियों के विषय में सीधी और सरल बात नहीं है। उनके मन में इस बात का निरंतर आभास रहा है कि इन बौद्धिक प्रक्रियाओं के स्वरूपनिर्माण में आर्थिक परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं भर का प्रतिबिंब नहीं हैं। प्रश्न उठता है कि 'वह और' क्या है जो समाज की आर्थिक व्यवस्था से निर्धारित चेतना को मुक्त रूप से अपने नियमों पर संचालित होने की छूट देता है और फिर इस चेतना को सामाजिक प्रगति में निर्णायक भाग प्रदान करता है। इसका उत्तर हमको इन आचार्यों से नहीं मिलता, वे तो अंतर्विरोध उत्पन्न करने वाली इन संभावनाओं की ओर संकेत कर पुनः अपनी स्थापना पर लौट आते हैं। मार्क्स अपनी बात को संभालते हुए कहते हैं कि 'किसी परिवर्तित होते युग के बारे में हम उस युग की बौद्धिक चेतना के आधार पर ही निर्णय नहीं कर सकते। इसके विपरीत इस चेतना को भी हमें भौतिक जीवन और उत्पादन संबंधों के अंतर्विरोधों को दृष्टि में रखकर सोचना समझना चाहिए।'[6] यहां 'ही' और 'भी' शब्दों से मार्क्स के मन की द्विविधा ही पोषित होती है। एंगेल्स ने अधिक स्पष्टता के साथ स्वीकार किया कि 'आर्थिक प्रगति का सूत्र अंततः अपने को अनिवार्य सिद्ध कर देता है।'[7] इस प्रकार इतिहास की द्वंद्वात्मक प्रगति के क्रम में यह चेतना की दरार इस सिद्धांत में अंतर्विरोध की परिचायक है, क्योंकि बौद्धिक प्रक्रियाओं और उपलब्धियों को कुछ भी छूट देने से इतिहास की गति सीधी रेखा में प्रवाहित होने के स्थान पर न जाने कब कौन सा मोड़ ले सकती है।

इस आधार पर साहित्य में जो जनवादी दृष्टिकोण विकसित हुआ है उसने प्रारंभिक गत्यात्मकता के स्थान पर, जो मार्क्स, एंगेल्स, गोर्की तथा एक सीमा तक लेनिन में मिलती है, विकासकालीन सैद्धांतिक रूढ़िवादिता का रूप ही अधिक

मिलता है। जिस प्रकार सामंतयुगीन रूढ़िवादी धर्म और दर्शन के प्रति विद्रोह करते समय वैज्ञानिक भौतिकवाद में काफी गति परिलक्षित होती थी, उसी तरह रूढ़िवादी भौतिकवाद से विद्रोह करते हुए द्वंद्वात्मक भौतिकवाद (समाजवाद) में जीवन और गति की पकड़ थी, ऊपर की विवेचना से भी यह स्पष्ट है। पर ज्यों ज्यों इसकी प्रक्रिया आगे बढ़ती गई इसका अंतर्विरोध भी प्रत्यक्ष होता गया है। साथ ही साहित्य के क्षेत्र में अपनी पद्धति के अंतर्गत व्यापक तत्वों को स्वीकृति देने का अथक प्रयत्न भी चलता रहा है और साहित्य को शासक वर्ग (श्रमिकवर्ग) का अस्त्र होने का निर्णय भी दिया जाता रहा है। ऐसी परिस्थिति के बीच जनवादी साहित्य की एक सीमा वह रही है जिस पर साहित्य की विषयवस्तु सामाजिक यथार्थ से सजीव तथा स्पंदित होकर ही राजनीतिक मूल्यों का मूल स्रोत बन सकती है। 'इस दृष्टि से ही साहित्य यथार्थ की उन समस्त युगीन जटिलताओं और विषमताओं को प्रतिबिंबित करता है जिनके द्वारा और जिनके माध्यम से समाज की आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था स्वयं गतिशील होती है। परंतु यहां इस सामाजिक यथार्थ के प्रतिबिंब के सिद्धांत से आप जनवादी साहित्य के किसी स्वतंत्र 'मान' की कल्पना न करने लगें, इसलिए स्पष्ट करना आवश्यक है कि ये साहित्यशास्त्री इसके साथ ही स्वीकार करते हैं कि 'यथार्थ सामाजिक प्रतिबिंब में कलाकार अनजाने ही वर्गसंघर्ष की उन शक्तियों को प्रस्तुत कर सकता है जो सचेत रूप से मान्य और सामाजिक दर्शन द्वारा उत्पन्न उसकी अपनी आशा आकांक्षाओं को मिटा देंगे।' और इसके साथ हम जनवादी साहित्य की दूसरी सीमा वह मान सकते हैं जिसका निर्धारण वर्तमान साम्यवादी रूस के निर्माताओं ने समय समय पर किया है, जिसका संकेत जोजेफ रेवाई के कथन में पहले ही दिया गया है। इस सीमा पर साहित्य जनता की शक्ति का अस्त्र स्वीकार किया गया है।

परंतु क्या सचमुच इन दोनों सीमाओं के बीच कोई मौलिक अंतर है? और यदि नहीं तो इनका मुख्य उद्देश्य क्या रहा है? इधर प्लेखनोव के सिद्धांतों को कुत्सित समाजशास्त्री कहकर उसकी कड़ी आलोचना करनेवालों में मिखाइल लीफाशित्स का नाम अधिक आया है, वे 'लेनिनवादी' साहित्यिक दृष्टि का प्रतिपादन करते हुए जहां अपनी तान तोड़ते हैं, वहां आधार रूप से अपने प्रतिपक्षी से अलग नहीं हो पाते 'मार्क्सवादी समाजशास्त्री का यह लक्ष्य है कि वह विश्व संस्कृति की समस्त प्रगति के इतिहास में श्रमजीवी क्रांति और समाजवादी विचारधारा की ओर प्रगति करने वाले जनांदोलन के विकासक्रम को खोज निकाले, जो दबे-पिसे वर्गों के जीवन की परिस्थितियों को प्रतिबिंबित करता है, साथ ही संस्कृति के उन समस्त प्रगतिशील और जनवादी तत्वों से प्रतिक्रियावादी तत्वों को अलग करता है।'[3] क्या यह निष्कर्ष प्लेखनोव के इस निष्कर्ष से अधिक भिन्न है कि

'विचारों का अभियान' वर्गों के इतिहास और उसके पारस्परिक संघर्षों का प्रतिबिंब है।'[9]

विचार करने से मौलिक स्थापनाओं में कोई अंतर नहीं जान पड़ता। अंतर केवल इतना है कि एक कहता है सेब से सेब पैदा होता है और ह्रासयुगीन कला अनिवार्यतः पतनोन्मुखी होगी इस प्रकार समस्त उन्नत तथा सशक्त साहित्यिक परंपरा से अपने को विच्छिन्न कर लेता है। जबकि दूसरा इस परंपरा की ओर लोभ की दृष्टि से देखता हुआ उसमें अनजान रूप से शोषित वर्ग की इच्छा-आकांक्षाओं के प्रतिबिंबित होने की संभावना की कल्पना करता है। पहला तुलसीदास को सामंतयुगीन संस्कृति की उपज कहेगा और उनके साहित्य को उसी ह्रासयुगीन संस्कृति का परिचायक और उसका अनिवार्य अंग मान कर पतनोन्मुखी सिद्ध कर देगा। इसके विपरीत दूसरा तुलसी की सामंती शासकवर्ग की चेतना को प्रतिनिधि मान कर भी, उनके साहित्य में उन 'सूक्ष्म' तत्वों को ढूंढ निकालने का अथक प्रयत्न करेगा, जिनमें उनके अनुसार तुलसी ने शोषित श्रमिक वर्ग के स्वार्थों तथा आकांक्षाओं को अनजाने ही ग्रहण कर लिया है।[10] पर इन दोनों ही स्थितियों में यह स्पष्ट है कि समाज के आर्थिक नियमों की अनिवार्यता के बीच सांस्कृतिक उपलब्धियों और प्रतिमानों का संबंध वर्गगत होता है और वे सदा शासक वर्ग के ही होते हैं, यह बात दूसरी है कि साहित्यकार के द्वारा प्रतिबिंबित यथार्थ में अन्य पक्ष भी उभर आए।

इस प्रकार मार्क्सवादी चिंतकों द्वारा की गई साहित्य की जनवादी व्याख्या अपने चक्र में विरोधाभासों को उत्पन्न करती रही हैं। साहित्य का मूल्य अपने आप में पूर्ण है अथवा उसका सामाजिक दायित्व है, साहित्यकार का अपना कोई स्वतंत्र दायित्व है अथवा वह केवल इतिहास की विराट शक्ति की इच्छा मात्र है, साहित्य प्रगतिशील है या प्रतिक्रियाशील और अंत में यह भी कि साहित्य जनवादी है अथवा प्रतिगामी। ये प्रश्न इस प्रकार प्रस्तुत किए गए हैं जिनसे ध्वनित हो कि यह विरोधी स्थिति अनिवार्य है, जब कि अपनी अंतर्विरोधी स्थिति की ओर उनका कभी ध्यान नहीं गया। यद्यपि इस चक्र में पड़ कर अनेक रोचक परिणतियां देखी जा सकती हैं। 'मानव आत्मा के शिल्पी' के रूप में साहित्यकार को प्रोत्साहित करते हुए ज्दानोव ने कहा था कि 'कलात्मक बिंब का सत्य और यथार्थवादी सैद्धांतिक परिशोधन तथा श्रमिक जनता को समाजवाद की मनोवृत्ति में दीक्षित करने के लिए उन्हें काम में जुट जाना चाहिए।'[11] और वह इस साहित्यिक आलोचना को सामाजिक यथार्थवाद के रूप में स्वीकार करता है। अब इस शिल्पकार के हाथ में मानव आत्मा को गढ़ने के लिए छेनी-हथौड़ी के स्थान पर साहित्य को स्थापित किया जा सकता है। इस विषय में सबसे रोचक तर्कपद्धति उन लीफाशित्स की है जिनकी चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है। उनका कहना है कि

आज विकसित वर्ग के युग में लेखकों पर वर्गों पर आधिपत्य अधिक है, इस कारण वे प्राचीन लेखकों के समान, प्रतिगामी शक्तियों के साथ रहकर भी शाश्वत और स्थाई साहित्य नहीं प्रस्तुत कर सकते।[12] क्या अंततः इस बात को इस प्रकार नहीं रखा जा सकता है कि प्राचीनों की परंपरा को स्वीकार कर लो, उससे क्या बनता-बिगड़ता है, लेकिन आज के साहित्यिक को किसी प्रकार मुक्त नहीं किया जा सकता है।[13] आज के साहित्यकार के सामने स्पष्ट दो राहें हैं; प्रगतिशील, प्रतिक्रियावादी; जनवादी, प्रतिगामी आदि।

यहां हम फिर उस बात को स्पष्ट करना चाहेंगे कि कठिनाई यह नहीं है कि वर्गसंघर्ष की स्थिति में हम साहित्यकार को किस पंक्ति में देखना चाहते हैं। निश्चय ही साहित्यकार की पंक्ति शोषितों की है, श्रमिकों की है और साथ ही उनकी है जो इतिहास की गति को चुनौती देकर अविभाज्य मानवता की कल्पना को यथार्थ बनाने में तत्पर हैं। साथ ही स्पष्ट है कि हम मानव इतिहास की किसी भी निश्चित नियतिगत व्याख्या को अंततः स्वीकार नहीं करते। लेकिन वास्तविक कठिनाई उठती है साहित्य के जनवादी मानदंड की स्थापना के संबंध में। और सबसे अधिक उस समय जब युग युग के श्रेष्ठ तथा उच्च साहित्य की व्याख्या वर्ग-संघर्ष के आधार पर की जाए। पिछली विवेचना से यह स्पष्ट हो गया है, परंतु इसके बीच कुछ ऐसे तथ्य भी हाथ लगे हैं जिनके आधार पर हम किन्हीं निष्कर्षों तक पहुंच सकते हैं। साहित्य की प्रवृत्तिमूलक (टेंडेंसियश) व्याख्या का आधार प्रस्तुत करके भी मार्क्स, एंगेल्स और एक सीमा तक लेनिन ने भी साहित्य में सार्वभौमिकता का तत्व स्वीकार किया है। अनेक स्थलों पर उन्होंने प्राचीन महान साहित्यकारों और कृतियों के विषय में जो कुछ कहा है और उनकी श्रेष्ठता को स्वीकार किया है, उससे यह सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त 'उस और' का भी जिसका उल्लेख पहले किया गया है, सूत्र मिल जाता है। सैद्धांतिक विवेचनाएं प्रायः अपने तर्क के आवेग में सत्य के एक पक्ष पर अधिकाधिक बल देती जाती हैं, इसी कारण अनेक बार महान चिंतकों के जीवन और जीवनदर्शन में विरोध दिखाई पड़ता है जो उनके गत्यात्मक व्यक्तित्व में तो संभल जाता है, पर आगे चलकर अनुयायियों की रूढ़िवादी व्याख्याशैली में अधिकाधिक उभर कर सिद्धांत की जीवंत शक्ति को नष्ट कर देता है।[14]

यह सार्वभौमिकता का तत्व इस 'और' को मानवतावाद (19वीं शताब्दी का मानववाद नहीं) के रूप में प्रतिष्ठित कर सकता है। आगे 'समग्र सामाजिक जीवन को प्रतिबिंबित करने' की बात से इस बात को अधिक बल मिलता है। यह भी माना गया है कि वर्गसंघर्ष के दौरान में साहित्यकार अपने वर्ग से अपनी समस्त सर्जनात्मक प्रेरणा ग्रहण करके दूसरे वर्गों की इच्छा-आकांक्षाओं को भी अभिव्यक्त (प्रतिबिंबित) करता है। स्पष्टतः अपनी चेतना के मूल

स्रोत की अवहेलना करके वह समस्त सामाजिक इकाई को प्रतिबिंबित करने में सक्षम हो सकता है। 'अनजाने ही' का प्रश्न उठता नहीं, क्योंकि इस प्रकार सर्जनात्मक प्रक्रिया के संबंध में कठिनाई उपस्थित हो जाएगी, वैसी स्थिति में सवाल उठेगा कि क्या साहित्यिक रचना साहित्यकार के मन की अवचेतन प्रक्रिया है। और इस सवाल पर हमारे साथ वे ही अधिक चौंकेंगे जिन्होंने इसका प्रयोग किया है। इस समग्र सामाजिक जीवन को प्रस्तुत करते समय साहित्य वर्गसंघर्ष की बाह्य परिस्थितियों से निर्धारित और प्रभावित होते हुए भी (यद्यपि उसके अपने आंतरिक नियम भी हैं, ऐसा स्वीकार किया गया है) वर्गों तथा जातियों में विभाजित समाज के मानवीय संबंधों को ही अधिक व्यक्त करेगा। दूसरे वर्ग अर्थात श्रमिकवर्ग के स्वार्थों को प्रतिबिंबित करने की भी हमको एक नए निष्कर्ष तक पहुंचाने में सहायक होती है। अर्थात मानवीय संबंधों को साहित्य व्यापक सहानुभूमि के आधार पर ही ग्रहण करने में समर्थ हो सकता है। अंत में एंगेल्स की 'संघर्षों के स्वरूप निर्णय में प्रमुख भाग लेने वाली' बात हमारी स्थापनाओं के लिए महत्वपूर्ण आधार प्रस्तुत करती है। उसमें परिलक्षित होने वाली द्विविधा तो अंतर्विरोध की परिस्थिति मात्र है। अन्यथा हम कह सकते हैं कि इस प्रकार साहित्य मानवीय संबंधों की व्यापक सहानुभूति से शासक तथा शासित दोनों वर्गों, उच्च तथा नीच दोनों जातियों में परिवर्तन उपस्थित कर सकता है, करता भी है यद्यपि समस्त सामाजिक युग की अपनी सीमाएं और मर्यादाएं उसमें विद्यमान रहेंगी।

वस्तुतः साहित्य का कोई भी जनवादी सिद्धांत पर्याप्त नहीं हो सकता है, जो वर्तमान अथवा अतीत के गहन और महान साहित्य की समुचित व्याख्या न कर सके, उसकी श्रेष्ठता के रहस्य को उद्‌घाटित न कर सके। संसार के महान साहित्य की परंपरा की व्याख्या तत्कालीन गतिशील शक्तियों की प्रतिक्रियाओं के रूप में न हो सकती है और न उनके संघर्षों को प्रतिबिंबित करने के अर्थ में। व्यास की यथार्थ की विराट कल्पना, शेक्सपियर की मानवजीवन में सूक्ष्म अंतर्दृष्टि और तुलसी की व्यापक वैष्णव भावना इसलिए महान नहीं है कि उन्होंने मात्र अपने युग की प्रतिच्छाया को ग्रहण किया था अथवा उनमें वर्गचेतना के संघर्षशील वे स्तर परिलक्षित हुए हैं जो मानव इतिहास के निश्चित विकासक्रम के द्योतक हैं। उनकी वास्तविक महानता का अर्थ है वह व्यापक मानवीय सहानुभूति, जिसने उनकी कृतियों में युग जीवन को वर्गों और जातियों में विभक्त प्रतिबिंबित करने के स्थान पर समग्र और अविभाज्य मानवता के रूप में ग्रहण किया है। इस सूत्र के सहारे, 'वैज्ञानिक भौतिकवाद और पूंजीवादी व्यवस्था में विघटित होते मानवीय प्रतिमानों के बीच उत्पन्न होने वाले ह्यूगो, दोस्तोव्स्की तथा तोल्स्तोय जैसे प्रतिभाशाली लेखकों की महानता का रहस्य भी खुल जाता है। वे युग समाज के विराट कैनवास पर व्यापक मानवता को गहरी आंतरिक सहानुभूति से भिन्न प्रस्तुत कर

सके, यही उनकी महानता है। प्रेमचंद के 'गोदान' की श्रेष्ठता और महानता इसी सत्य में निहित है कि वे इससे संपूर्ण मानव इकाई को अपने हृदय की सच्ची और गहरी सहानुभूति दे सके हैं। कौन ऐसा वर्ग है, कौन ऐसा पात्र है जो उनकी सहानुभूति से पूर्णतः अभिभूत नहीं है, यह बात तो गौण है कि वे अपने अपने युग के वर्गसंघर्ष को प्रतिबिंबित कर सके और इस बात का भी कोई महत्व नहीं कि उनका श्रमिकवर्ग हारा-थका है। वास्तव में ये दोनों बातें उनकी यथार्थ दृष्टि के अंतर्गत स्वतः आ जाती हैं।'

अंत में जनवादी साहित्य के दृष्टिकोण में संपूर्ण सामाजिक जीवन मानवता की अविभक्त और वर्गहीन कल्पना को लेकर ही उपस्थित होता है। इसके विस्तार में वर्ग, जाति, व्यक्ति और उनके प्रत्येक स्तर के संघर्ष अंतर्निहित हैं। इस आधार पर साहित्य किसी युगवर्ती समाज के सांस्कृतिक मूल्यों को अर्थवान करता है और साथ ही उसकी युग युग की सांस्कृतिक परंपरा को गति प्रदान करता है। और इसका माध्यम है साहित्यकार की व्यापक और गहन सहानुभूति, उसका संवेदनशील तथा स्वतंत्र व्यक्तित्व जो उसे इस कठिन दायित्व को वहन करने का विवेक और शक्ति प्रदान करता है।

संदर्भ

1. दे०; जोसेफ रेवार्ड, लुकाच और सामाजिक यथार्थवाद, 1950.
2. कार्ल मार्क्स : 'राजनैतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा' की भूमिका, संकलित रचनाएं, भाग 2, पृ० 9-10
3. वही, हांज स्टार्कनबर्ग के नाम पत्र, 25 जनवरी, 1894.
4. दे०; मार्क्स, एंगेल्स : सिलेक्टेड करेस्पांडेंस.
5. वही.
6. कार्ल मार्क्स, उपरोक्त, पृ० 9-10
7. दे०; एंगेल्स का कानराड स्मिथ को पत्र, 27 अक्टूबर 1890; सिलेक्टेड करेस्पांडेंसः मार्क्स, एंगेल्स
8. दे०; ऐंजेल फ्लोरेंस (सं०) : साहित्य और मार्क्सवाद.
9. प्लेखनोव : समाजशास्त्रीय दृष्टि से 18वीं शताब्दी में फ्रेंच साहित्य और चित्रकला.
10. इस प्रकार की आलोचना की दोनों सीमाओं से हिंदी के पाठक परिचित हैं.
11. दानोव का अखिल रूसी लेखक संघ में भाषण, 1934.
12. दे०; आलेज फ्लोर : 'लिटरेचर ऐंड मार्क्सिज्म'.
13. असाम्यवादी देशों में तो वर्तमानों के साथ भी इस प्रकार का विवेक बरता जाता है.
14. शंकर ने शून्यवादी नागार्जुन के तर्कों से ही उनके शून्य के नकारात्मक सिद्धांत को काटकर स्वीकारात्मक अद्वैत ब्रह्म की स्थापना की थी, और कहते हैं कि वे हृदय से भक्त थे, 'सौंदर्य लहरी' (भले ही अप्रामाणिक हो) का प्रमाण माना जाता है. अद्वैतवाद की इसी अंतर्विरोधी स्थिति ने बाद के समन्वयवादी तत्ववादों और साहित्य को उत्पन्न किया है.

हिंदी का यात्रासाहित्य

कवि और कलाकार की आत्मा यायावर होती है। कहते हैं कवि और साहित्यकार जीवन के अंतर्तम स्वरों को पहचानता है। और यह जगत है क्या, जो जीवन की संज्ञा से अभिहित है। जीवन में एक गति, निरंतर प्रवहमान गति है, जो अबाध रूप में रहती है। शिशु पैदा होता है; बढ़ता जाता है; दिन-रात में बदलते बदलते ऋतुएं परिवर्तित हो जाती हैं; पृथ्वी घूमती जाती है, प्रातः-संध्याएं अपना राग बिखेरती हैं; दिन अपने प्रकाश से आलोकित होता है; रात अपने अंधकार में चंद्र-तारकों से नानाविध श्रृंगार करती है; यही नहीं—नाचती पृथ्वी फिर घूमती रहती है—वसंत के उल्लास में वनस्पति लहलहाकर पुष्पित और पल्लवित हो जाती है; ग्रीष्म की चोटों से सारा प्रकृतिविस्तार मुरझा जाता है; वर्षा के आलोड़न से तृण तृण अंकुरित हो जाता है और जाड़े में पाले से आहत वृक्ष-पादप-लताएं सभी अपने पीले नीरस पत्तों को गिराने लगती हैं और वसंत की भूमिका में पतझड़ मर्मर संगीत न मुखरित हो जाता है; और फिर सारा नक्षत्र-तारालोक गतिशील है, अणु-परमाणु उसी ताल पर थिरककर नाच रहे हैं।

साहित्यकार अनजाने ही इस गति को पहचानता है और अपने अंदर स्पंदित सांसों के माध्यम से वह इसी गतिसंचरण का आह्वान करता है। फिर उसकी यायावर आत्मा संसार की गति के साथ, विश्व के संचरण के साथ होड़ लगा देती है। एक अद्भुत आकर्षण उसको अपनी ओर खींचता है, वह मंत्रमुग्ध होकर उस की ओर बरबस खिंचता आता है। और एक दिन संसार देखता है कि वह यायावर हो गया है। संसार के लोग तो इस पुकार को सुन नहीं पाते या सुनकर भी अन-सुनी कर देते हैं। वे चलते तो रहते हैं, क्योंकि यहां रुककर खड़ा होना संभव नहीं; पर वे तेली के बैल की तरह कोल्हू के चारों ओर घूमने में अपने परिश्रम की सार्थ-कता मान बैठते हैं। पूछा जा सकता है, आखिर इसका उद्देश्य क्या है? इस यात्रा, इस घुमक्कड़ी का अर्थ क्या है? उत्तर देना कठिन है। पर क्या कोई नक्षत्रों से पूछता है कि उनकी गति का लक्ष्य क्या है? क्या कोई ब्रह्मांड के लक्ष लक्ष तारकों से पूछता है कि उनके घूमते रहने का उद्देश्य क्या है? पूछने से उत्तर मिलेगा भी नहीं।

संसार के बड़े बड़े यायावर अपनी मनोवृत्ति में साहित्यिक थे। फाह्यान, ह्वेनसांग, इब्नबतूता, बर्नियर आदि जितने प्रसिद्ध घुमक्कड़ हुए हैं अथवा देश-विदेश के जितने साहसी अन्वेषक हुए हैं सबमें साहित्यिक यायावर का रूप रक्षित है। उन्होंने अपनी यात्राओं में उद्देश्य को प्रधानता नहीं दी। वे निःसंग भाव से घूमते रहे हैं, घूमना ही उनके लिए प्रधान उद्देश्य रहा है। वे देश देश के पर्वत,

उपत्यका, घाटी, नदी, सरोवर, नगर और गांव की पुकार सुनकर ही उनकी ओर आकर्षित हुए हैं। परंतु यात्रा करने मात्र से कोई साहित्यिक यायावर की संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकता, और न यात्रा का विवरण प्रस्तुत कर देना मात्र यात्रा-साहित्य है। पिछले युगों में अनेक यूरोपीय तथा चीनी यात्रियों ने यात्राविवरण प्रस्तुत किए हैं, और उनके इन विवरणों के बीच कुछ ऐसे संस्मरणीय अंश अवश्य हैं जिनसे प्रत्यक्ष हो जाता है कि इनमें अधिकांश यात्रियों की आंतरिक प्रेरणा साहित्यिक यायावर की है। पर इनके विवरणों में राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक दृष्टि को प्रधानता दी गई है, कुछ ने भौगोलिक निर्देशन का भी ध्यान रखा है।

भारत में यात्रियों की कमी रही हो, ऐसी बात नहीं; क्योंकि तिब्बत, चीन, ब्रह्मा, मलाया और सुदूर पूर्व के द्वीपों में भारतीय धर्म और संस्कृति का संदेश इन यात्रियों के पीछे गया होगा। यात्रा का मोह और आकर्षण मानव मात्र का स्वभाव है, और भारतीय उससे अलग नहीं रह सकते थे। पर भारतीय दृष्टि में इतिहास, विवरण, संस्मरण तथा आत्मचरित के प्रति विचित्र अनास्था आरंभ से रही है। संभवत: यही प्रधान कारण है कि भारतीय साहित्य में उपर्युक्त अंगों के साथ यात्राविवरणों का नितांत अभाव है। आधुनिक अर्थ में यात्रासाहित्य की कल्पना तो उस युग में ही नहीं की जा सकती थी। पर इसका अर्थ यह नहीं कि संस्कृत के कवियों में साहित्यिक यायावर की मनोवृत्ति परिलक्षित नहीं होती। प्रकृति का जो व्यापक सौंदर्य और देशकाल का जो सूक्ष्म ज्ञान इन कवियों में पाया जाता है उससे प्रकट होता कि इन कवियों ने प्रकृति-आह्वान को सुनकर अनसुना नहीं किया है। विशेषकर कालिदास और बाण का इस दिशा में निर्देश किया जाना आवश्यक है। कालिदास के 'कुमारसंभव' में हिमालय का वर्णन अलंकृत होकर भी नितांत काल्पनिक नहीं है, 'रघुवंश' में देश-विदेश का वर्णन बिना अनुभव के संभव नहीं और इन सबसे अधिक 'मेघदूत' में मेघ की जिस काल्पनिक यात्रा का वर्णन है, वह कवि की यात्रा का मनस्परक अध्यंतरित रूप (सब्जेक्टिव ट्रांसफर्ड) ही जान पड़ता है। भारतीय कवि और साहित्यकार को अपनी बात को अपनी प्रगति जैसी लिखने की छूट नहीं थी। कालिदास जैसे भावुक और रोमांटिक कवि को 'मेघदूत' जैसे मनस्परक प्रगीत (सब्जेक्टिव लिरिक) के लिए इसी कारण यक्ष की अलकापुरी का कथासूत्र ग्रहण करना पड़ा; तो इसमें आश्चर्य क्या कि इस दूतकाव्य में कवि की यायावर आत्मा इस प्रकार अभिव्यक्त हो सकी है। नहीं तो मेघ की यात्रा में वही नि:संग भाव है, वही मस्ती है और वही सौंदर्यबोध है जो आज के साहित्यिक यात्रासंस्मरणों में या विवरणों में। साथ ही बीच बीच में यक्ष मेघ को अपनी विरहाकुल स्थिति की याद दिलाकर इन वर्णनों को भावाविष्ट भी कर देता है। महाकवि प्रकृति के आकर्षण से, उसके सम्मोहन से परिचित है, तभी तो वह

मेघ को विरम न जाने के लिए सचेत करता चलता है : 'हे मेघ, कुटज-पुष्पों से लदे उन सुगंधित पर्वतों पर तुम ठहरते जाना, वहां मोर नेत्रों में आंसू भरकर अपनी केका से तुम्हारा स्वागत कर रहे होंगे। लेकिन तुम वहां रुकना मत।'
(मेघदूत)

और बाण। उसको तो अपनी घुमक्कड़ प्रवृत्ति के कारण कान्यकुब्जाधीश्वर हर्षदेव ने भरी सभा में 'भंड' कहकर पुकारा था। 'हर्षचरित' में बाण ने अपने विषय में जो कुछ लिखा है, वह इस बात का साक्षी है कि बाणभट्ट घुमक्कड़ थे और उसके अनुरूप निर्द्वंद्वता तथा मस्ती भी उनमें थी। 'हर्षचरित' के 'आत्मचरित' अंश में इन यात्राओं का किंचित उल्लेख भर हुआ है। बाणभट्ट के सामने भी भारतीय साहित्य के आदर्श की मर्यादा थी, जिसने अपने विषय में अधिक कुछ कहने से उसे रोक दिया है। फिर भी 'हर्षचरित' तथा 'कादम्बरी' में जो देश देश की प्रकृति और विभिन्न प्रकार के लोगों का वर्णन मिलता है, वह उसी यायावरी मनोवृत्ति की देन है। कहीं श्रीकंठ देश है : 'इस देश में, प्रत्येक दिशा में एक दूसरे के खलिहानों द्वारा विभक्त वहां के सीमांत अपूर्व पर्वतों के समान शस्य पुंज से भरे रहते हैं। चारों ओर नहरों से सींचे जाते हुए जीरों के पौधों से वहां की भूमि उलझी रहती है।···भैंस की पीठ पर बैठे गोपाल गीत गाते हुए गौओं को चराते हैं। उनके पीछे कीटों के लोभी चटक जाते हैं।' (हर्षचरित)। अन्यत्र विंध्य के मार्ग का वर्णन यात्री बहुत ही मनोयोग के साथ करता है : 'वन्य भागों में जंगली धान के खलिहानों पर सारी के जलते हुए भूसे के ढेरों से धुआं निकल रहा था। विशाल वटवृक्षों के चारों ओर सुरती शालाओं से गोवोट बने हुए थे। अधिक आना-जाना न होने से भूमि पददलित नहीं हुई थी, खेत छोटे छोटे और दूर दूर थे, उनकी मिट्टी लोहे की तरह काली और कड़ी थी, स्थान स्थान पर रखे गए स्थाणुओं से मोटे पल्लव निकल आए थे, श्यामक नामक घास पर चलना कठिन था।' ऋतु, कालों, वन-प्रदेशों, सर-सरोवरों के वर्णनों में बाण की यायावरी प्रवृत्ति के साथ काव्यात्मक कल्पना का अद्भुत सम्मिश्रण हुआ है। यही कारण है कि प्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म रंगों को, छायातपों (शेड्स) को तथा उसके विराट और अद्भुत रूप-श्रृंगार को बाण बड़ी ही सजीवता से प्रस्तुत कर सके हैं।

इसके बाद भारतीय साहित्य में एक लंबा युग आता है जब साहित्यकार के लिए प्रकृति जड़ हो गई, उसके लिए उसका सारा आकर्षण नष्ट हो गया। और यहां यह स्वीकार कर लेने में मुझे कोई संकोच नहीं कि यात्रा का बहुत बड़ा आकर्षण प्रकृति की पुकार में है। मैं यह नहीं कहता कि यात्रासाहित्य के अंतर्गत देश-विदेश का जीवन नहीं आता, उसके नगर और गांव नहीं आते। पर यह भी ठीक है कि यदि यात्री गांव-नगर के जीवन में इस कदर उलझ जाए कि उसे अपनी यात्रा का स्मरण ही न रहे तो मैं कहूंगा कि वह अपने प्रधान उद्देश्य से विमुख हो

गया। यायावर वही है जो चला जाए, कहीं रुके नहीं, कोई बंधन उसे कसे नहीं, और वह जो दर्शनीय है, ग्रहणीय है, स्मरणीय है अथवा संवेदनीय है उसका संग्रह करता चले। ऐसे भी हैं जो नाप-जोख करते हैं, हिसाब लगाते हैं, विवरण प्रस्तुत करते हैं; और ऐसे भी हैं जो यात्रा के नाम पर भोग-विलास का सुख लूटने के लिए ही चल पड़ते हैं। साहित्यिक अर्थ में इनको यात्री मानना, यायावर कहना, घुमक्कड़ स्वीकार करना यात्रा का अपमान है। यह सब और कुछ भी हो सकता है, पर साहित्यिक नहीं हो सकता। या यों कहें कि जो मुक्त भाव से, अनुभूतियों को संजोता हुआ, देशकाल में फैले हुए अनंत जीवन में सांसें लेता हुआ यात्रा नहीं करता, वह यात्रा का साहित्य नहीं दे सकता, विवरण प्रस्तुत करता है। ये विवरण कभी भूगोल, इतिहास, समाजशास्त्र आदि की सीमाएं स्पर्श करते हैं और कभी राजनीति, अर्थनीति अथवा संस्कृति के अर्थ की सिद्धि करते हैं। ऐसा नहीं कि इनका महत्व नहीं है, इनका अपने आप में अत्यधिक महत्व है; पर इनको शुद्ध साहित्य की कोटि में रखा नहीं जा सकता।

मैं कह रहा था कि भारतीय साहित्य के इतिहास में एक लंबा युग आया, या यों कहें कि कितने ही लंबे युग बीते जिनमें साहित्यकार अपनी परंपरा का कठिन बंदी रहा। एक या किसी दूसरे कारण से भारतीय कवि इन युगों में मुक्त और स्वच्छंद नहीं हो सका, वह अपनी परंपराओं, रूढ़ियों और अपने संप्रदाय के बंधनों में ही व्यस्त और संतुष्ट रहा। अपभ्रंशसाहित्य में यत्किंचित मुक्ति दिखाई देती है, हिंदी के भक्तिसाहित्य में उल्लास की स्वच्छंदता प्रकट होती है। पर साहित्यिक रूढ़ियों, धार्मिक दुराग्रहों तथा सांप्रदायिक परंपराओं ने साहित्य में मुक्ति और उल्लास के इस स्वच्छंद स्वर (रोमांटिक टोन) को उभरने नहीं दिया। ऐसे वातावरण में मनस्परक प्रगीतों (सब्जेक्टिव लिरिक) को ही अनुरूप वातावरण नहीं मिल सका, यात्रासाहित्य का प्रश्न क्या? हिंदी में तो संयत गद्य के अभाव में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के पूर्व यात्रासाहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती।

वास्तव में यात्रासाहित्य के विभिन्न रूप का विकास गद्यशैली के विकास के साथ ही संभव हो सका है। जिस प्रकार आधुनिक साहित्य के अन्य विभिन्न अंगों पर पाश्चात्य साहित्य का किसी न किसी रूप में प्रभाव है, उसी प्रकार हिंदी के आधुनिक साहित्य पर भी उसका ऋण स्वीकार करना चाहिए। प्रारंभिक लेखकों ने यात्राविवरण लेख रूप में प्रस्तुत किए। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने इस प्रकार के उल्लेख किए हैं। परंतु यात्रासाहित्य का विकास शुद्ध निबंधों की शैली से माना जा सकता है। अंगरेजी का प्रसिद्ध निबंधकार स्टीवेंसन घुमक्कड़शास्त्री ही था। निबंध-शैली के व्यक्तिपरकता, स्वच्छंदता तथा आत्मीयता आदि गुण यात्रासाहित्य में भी पाए जाते हैं। निबंधकार जिस प्रकार अपने विषय को अपनी मानसिक

संवेदक स्थिति के अनुरूप ही ग्रहण करता है और उसी की प्रेरणा से विस्तार भी देता है, बिलकुल उसी प्रकार यात्री भी अपनी यात्रा के प्रत्येक स्थल और क्षणों में से उन्हीं संवेदक क्षणों को संजोता है जिनको वह अनुभूत सत्य के रूप में ग्रहण करता है। वह सर्वसाधारण की दृष्टि से प्रत्येक बात का विवरण देकर ही नहीं चलता; और यदि विवरण तथा विस्तार देना ही होता है तो वह उन्हें अपने भावावेश में प्रस्तुत करता है अथवा आत्मीयता के वातावरण में उपस्थित करता है। एक बात और भी महत्वपूर्ण है—यात्री को अपने वर्णन में संवेदनशील होकर भी निरपेक्ष रहना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से ही न्याय की अधिक संभावना है; नहीं तो यात्री यात्रा के स्थान पर प्रधानत: अपने को ही चित्रित करने लगेगा। यात्रा में स्वत: स्थान, दृश्य, प्रदेश, नगर और गांव मुखरित होते हैं, उनका अपना व्यक्तित्व उभरता है। इनमें मिलने वाले नर-नारी, बच्चे-बूढ़े अपने नानाविध चरित्रों के साथ उनके व्यक्तित्व को अधिक स्पंदित और मुखरित करते हैं। मार्ग में पड़ने वाले मंदिरों, मस्जिदों, मीनारों, विजयस्तंभों, स्मारकों, मकबरों, किलों और पुराने महलों से संस्कृति, कला और इतिहास की सम्मिलित पीठिका तैयार होती है। अपने को अदृश्य भाव से सर्वत्र रखना ही होता है, यात्री अपनी यात्रा को मानसिक प्रतिक्रियाओं के रूप में ही ग्रहण करता है। पर अपने को केंद्र में रखकर भी प्रमुख न होने देना साहित्यिक यायावर का कठिन कर्तव्य है, क्योंकि लेखक का व्यक्तित्व उभरेगा तो अन्य सब गौण हो जाएगा और फिर वह यात्रासाहित्य न होकर आत्मचरित ही रह जाएगा, यात्रासंस्मरण न रहकर आत्मसंस्मरण हो जाएगा।

कहा गया है कि यात्री में प्रगीतों के गायकों का भावावेश रहता है और निबंधकार की मस्ती। वह अल्हड़ लापरवाही से जीवन को एक विशेष दृष्टि से देखता है। यात्रा को जो आकर्षण मानकर नहीं चलता, मस्ती के साथ निश्चिंत होकर जो यायावर नहीं बनता, जिसे आगे की सीमाएं क्रमश: आगे की ही ओर बरबस खींचती नहीं रहतीं, वह यात्रा करके भी यात्री कहलाने का अधिकार नहीं। पता नहीं, परियों के किस नीलम देश के लिए मनुष्य का बच्चा घुमक्कड़ बन जाता है, और फिर उसके मन के आकर्षण को कोई मिटा नहीं सकता। चिरकाल की संचित अभिलाषा उसको निरंतर भटकाती रहती है, और परियों का वह नीलम देश मिलकर भी उसे नहीं मिलता, अथवा मिलकर भी उसे घेर नहीं पाता। इस आकर्षण को वह इतनी गहराई से महसूस करता है कि वह मार्ग के बीच से अन्यों को भी बढ़ते आने के लिए पुकारता है। राहुलजी के लिए यह पुकार एक जीवनदर्शन प्रस्तुत करती है :

जिसने एक बार घुमक्कड़ धर्म अपना लिया, उसे पेंशन कहां, उसे विश्राम कहां ? आखिर में हड्डियां घुमक्कड़ी करते ही कहीं बिखर जाएंगी। मुझे जान

पड़ता है 'अथातो घुमक्कड़जिज्ञासा' कहते घुमक्कड़ शास्त्र लिखना पड़ेगा। मेरी यात्राओं को पढ़कर कितने ही माता-पिताओं को अपने सपूतों से वंचित होना पड़ा होगा। (किंतु अब तो मैंने शास्त्र लिख लिया है और उसमें) मैंने खुले आम घुमक्कड़ धर्म का प्रचार किया है। मैं हर घूमने वाले याचक या अयाचक को घुमक्कड़ नहीं मानता। सच्चा घुमक्कड़ धर्म, जाति, देश-काल सारी सीमाओं से मुक्त होता है, वह सच्चे अर्थों में मानवता के प्रेम का उपासक होता है। यह घुमक्कड़ दुनिया से लेता कम और देता अधिक है। (किन्नर देश में)

उपर्युक्त उद्धरण में यात्रासाहित्य की मूल प्रवृत्ति का निर्देश राहुलजी ने किया है। साहित्यिक यात्री के स्वरों में यात्रा के प्रति यही उल्लास और उमंग रहती है। यात्रा को वह केवल माध्यम के रूप में स्वीकार नहीं करता, उसके लिए वह लक्ष्य है, अपने आप में उद्देश्य है। जनजीवन के भावस्रोत से निःसरित लोकगीतों को चुनने वाले देवेंद्र सत्यार्थी के मन में यात्रा का सहज आकर्षण है :

मेरा पथ मेरे सामने है। मैं जीवित मानव का पक्ष लेता हूं। मैं मानव की भावनाओं और अनुभूतियों में असंख्य पीढ़ियों को लांघकर आते हुए जीवन की गाथा सुनूंगा। मैं मानव के दृढ़ संकल्पों में भविष्य की मुखाकृति देखूंगा। मैं उसके साथ चलूंगा। जीवन आज उसी यात्रा के लिए आह्वान कर रहा है। (रथ के पहिये)

अपने एक पात्र के मुख से लेखक ने अपना ही विश्वास व्यक्त किया है। वह यात्रा में जीवन की शाश्वत पुकार का आकर्षण पाता है। इस प्रकार मोह की सीमा तक पहुंचा हुआ आकर्षण यात्रा साहित्य की विशेषता है। आज के कार्यभार से व्यक्त जीवन में यह आह्वान यात्री के मन को अधिक उत्सुक और उद्वेगशील बना देता है। देवेश दास यात्रा के अवसर को पाकर ही उच्छ्वसित हो उठते हैं :

आज छुट्टी है, छुट्टी। मन ही मन जिस वसंत व्याकुलता का अनुभव करता था उससे आज बंधन मुक्त होऊंगा। काम की बाधा दूर हो गई, वह किसी प्रकार भी क्यों न हुई हो····आंधी में उड़कर अथवा वर्षा में घुलकर···और मैं अनिर्दिष्ट पथ पर बाहर निकल आया हूं। (यूरोप)

इस उल्लास में यात्रा के प्रति लेखक का आकर्षण और अटूट विश्वास ही व्यक्त हुआ है। जैसे बच्चा घर की तमाम उलझनों से मुक्त होकर खेलने के लिए उत्सुक और व्यग्र रहता है। उसी प्रकार यात्री का मन सांसारिक उलझनों के बीच यात्रा के सम्मोह का अनुभव करता है। वह संसार के विस्तार को आश्चर्य, कौतूहल और जिज्ञासाभरी दृष्टि से देखता है। वह दृष्टि के सौंदर्य को भावविह्वल तथा आनंदविभोर होकर देखता है। श्रीनिधि वन से आत्मीयता का अनुभव करते हैं और नगर के कृत्रिम जीवन के समकक्ष वन के मुक्त जीवन का जयघोष करते हैं :

इन एकांत द्रुमछायाओं में, इन पक्षियों के वन्य गीतों में, इन गिरिनदियों के शून्य प्रवाह में, इन निर्झरों के अश्रांत नादों में, इन निर्मल सूर्यास्त में, इन जनसंचार शून्य सैकत पुलिनों में, इन एकांतवासी हरिणों में, इन पुष्पविकासों में, इन घाटियों में, परम आनंद का जो पावन संदेश भरा है, संसार में कहीं भी उसकी तुलना नहीं। (शिवालक की घाटियों में)

इस प्रकार प्रकृति के अनंत शृंगार को, उसके विराट कोमल रूपों को, जीवन के विभिन्न स्तरों को तथा देश देश के नर-नारियों के जीवन को यात्री तन्मय होकर ग्रहण करता है। और आनंद के इस तन्मय उन्मेष में यात्री जीवन को विरामहीन यात्रा मानता है और मनुष्य को चिरंतन यायावर। 'अज्ञेय' जीवन को यायावर का चिरंतन पथ मानकर कहते हैं :

यायावर को भटकते चालीस बरस हो गए, किंतु इस बीच न तो वह 'अपने पैरों तले घास जमने दे सका है, न ठाठ जमा सका है, न क्षितिज को कुछ निकट ला सका है'···उसके तार छूने की तो बात ही क्या।···यायावर ने समझा है कि देवता भी जहां मंदिरों में रुके कि शिला हो गए, और प्राण-संचार की पहली शर्त है गति ! गति ! गति ! (अरे यायावर, रहेगा याद !)

इस प्रकार यात्रासाहित्य में व्यक्तिपरक भावावेश, उन्मुक्त मस्ती और अल्हड़ उल्लास मूलतः सन्निहित रहता है। कहा गया है कि यात्रा ही यात्री का लक्ष्य होना चाहिए, ऊपर के साहित्यिक यायावरों ने यात्रा को जीवनदर्शन के रूप में ग्रहण भी किया है। पर इसका मतलब यह नहीं कि सारी गति निरुद्देश्य ही प्रवाहित रहती है। यायावर का पथ शून्य की रेखा नहीं है। यात्रा के कष्ट, असुविधाएं, उसकी साहसिकता इतने आकाशी संतोष पर टिक भी नहीं सकते। इसका अभिप्राय है कि जो व्यावसायिक उद्देश्य से, प्रयोजनसिद्धि के भाव से, देश-विदेश, वन-पर्वत घूमते हैं उनके दृष्टिपथ पर जीवन का स्वच्छंद और मुक्त प्रवाह आ ही नहीं सकता और यही साहित्यिक यायावरों की पहली शर्त है। जीवन के किनारे से निकल जाने पर भी इनके लिए जीवन अननुभूत सत्य रह जाता है। और यात्री जीवन के इस स्रोत को पहचानता है, उसके उद्‌गम पर विचार करता है, उसके अंदर पैठकर अनुभूति प्राप्त करता है और उसकी आर्द्रता का अनुभव भी करता है। फिर वह अपनी इन समस्त संवेदनाओं को साहित्य में अभिव्यक्ति का रूप देता है।

यात्रासाहित्य विभिन्न शैलियों में लिखा गया है और इस कारण वह विभिन्न रूपों में बिखरा है। इस विषय का कुछ ऐसा साहित्य है जो केवल यात्रोपयोगी साहित्य कहा जा सकता है और जिसका उद्देश्य यात्रियों के लिए स्थान या देश विशेष की समस्त ज्ञातव्य बातों को संग्रहीत कर देना है। वैसे तो प्रत्येक यात्राविवरण से

यात्रियों को प्रेरणा और कुछ अंशों में सहायता मिलती है, पर इस प्रकार के साहित्य का एकमात्र उद्देश्य यही है। इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य राहुल सांकृत्यायन तथा स्वामी प्रणवानन्द ने किया है। वेणी शुक्ल, सूर्यनारायण व्यास तथा श्रीगोपाल नेवटिया आदि लेखकों ने सरल वर्णनात्मक शैली में अपनी यात्राओं का क्रमिक विवरण प्रस्तुत किया है। ऐसा नहीं कि इनमें केवल वर्णन प्रस्तुत करने भर की प्रवृत्ति पाई जाती है। इनकी शैली सीधी, सरल जरूर है; पर अपनी यात्रा के प्रति इन यात्रियों में उल्लास और आवेग है जो इनके वर्णनों में यत्र-तत्र प्रकट हुआ है। जहां परिचय देने का प्रयत्न लेखक करता है, वहां भी चित्र सहज और स्पष्ट सामने आ जाता है। वेणी शुक्ल ने सर्वथा इसी प्रकार के वर्णन प्रस्तुत किए हैं :

> गाड़ी चल पड़ी। फ्रांस की ऊंची-नीची भूमि (जैसे गरमियों में रहती है) सुसज्जित रमणी की तरह न थी। उस समय पेड़ों में पत्तियां न थीं; मैदान, पहाड़ इत्यादि बरफ से सफेद हो रहे थे। सूर्य का प्रकाश भी न था। कोहरा और धुंधलापन न था। (लन्दन-पेरिस की सैर)

इस विवरण में लेखक की जिज्ञासा व्यक्त होती है, उल्लास या आवेग नहीं पाया जाता। व्यास में अपेक्षाकृत उल्लास की भावना भी परिलक्षित होती है :

> दोपहर का समय था। ट्रेन अपनी पूरी ताकत से स्विट्जरलैण्ड की स्वर्गभूमि पर भागी जा रही थी। कभी पहाड़ियों को चीरती हुई, कभी पर्वतशिखर पर सरपट भागती हुई और कहीं गिरि कंदराओं में लुका-छिपी करती हुई, एक अजीब दृश्य उपस्थित करती रेल चली जा रही थी।···मैं अतृप्त नयनों से इस शोभा को देख रहा था। (सागर-प्रवास)

पर इस वर्णन में वह मस्ती और स्वच्छंद भावना नहीं है जो आगे की प्रौढ़ कृतियों में पाई जाती है। लेखक अधिकतर परिचयात्मक विवरणों में उलझ जाता है।

नेवटिया की शैली अधिक प्रौढ़ है और वह अपनी यात्रा के साथ कुछ रम सके हैं। इन्होंने अपनी यात्राभूमि का विस्तार के साथ विवरण दिया है और इनकी शैली भी प्रधानतः वर्णनात्मक ही है। फिर भी लेखक अपने चतुर्दिक को अधिक गहराई से देख सका है और उससे अधिक आत्मीयता स्थापित कर सका है :

> हरित और धवल गलीचे से आच्छादित पहाड़ी समतल भूमि के इस ओर बहुत दूर क्षितिज पर सूर्य की किरणों से चमकते हुए तुषारधवल पर्वतों की वह पतली सी रेखा, शीतल और मंद पवन का वह प्रवाह, विविध वर्णों से विभूषित नभ का वह रूप, ये सब मन को मत्त बनाने में पूर्ण समर्थ थे।

यही नहीं, लेखक के मन में वर्तमान के साथ अतीत भी प्रतिघटित होने लगता है। यात्री अपने वर्ण्य विषय को उसकी संपूर्णता में ग्रहण करता है, यही कारण है कि उच्चकोटि के यात्रा साहित्य में दृश्यसौंदर्य, जीवन का रूप, इतिहास, पुरातत्व

और अर्थनीति सब मिल जुलकर एकरस हो जाते हैं। लेखक के मन में सहज उत्सुकता जागती है :

> सुदृढ़ परकोटे की भांति काश्मीर की रक्षा करने वाली गिरिपंक्ति ने काश्मीर के जिन परिवर्तनों को देखा है उन्हें जानने के लिए, उन गिरि शिखरों के चरणों में खड़ा होकर, कौन उत्सुक न होगा ? वे पर्वत मूक हैं, जलस्रोत की वह ध्वनि भी अस्पष्ट है, पर तो भी उनकी ओर देखने से काश्मीर के प्राचीन वैभव का आभास होता है।(काश्मीर)

इस प्रसंग में स्वामी सत्यदेव का नाम भी उल्लेखनीय है। वह हिंदी साहित्य के प्रारंभिक घुमक्कड़ों में हैं। इन्होंने अपनी यात्रा विवरणों तथा डायरी के रूप में भी लिखी है। ये उन साहसिक यात्रियों में से हैं जिन्होंने यात्रा के मोह और आकर्षण में किसी बाधा को स्वीकार नहीं किया। सारे संसार का चक्कर इन्होंने बिना पैसे के लगाया है, यह बात उनके अदम्य उत्साह की द्योतक है। शैली के अभाव में वह उच्च यात्रा साहित्य का निर्माण तो नहीं कर सके हैं, पर अनेक देशों का, अनेक आकर्षक चरित्रों का प्रभावोत्पादक चित्र खींचने में इनको सफलता मिली है। राहुलजी ने यात्रासाहित्य के लिए विभिन्न माध्यम अपनाए हैं, शायद उनसे अधिक इस विषय पर इतने विविध रूपों में अन्य किसी ने नहीं लिखा है। वह 'हिमालय-परिचय' नाम से कई भागों में हिमालय संबंधी समस्त ज्ञातव्य बातों और विवरणों को प्रकाशित करा रहे हैं। इसके अतिरिक्त 'किन्नर देश में' 'यात्रा के पन्ने' आदि में इन्होंने अधिक साहित्यिक रूप में यात्राओं का वर्णन दिया है। इनमें डायरी शैली है, पत्र शैली है और साधारण वर्णनात्मक शैली भी। राहुलजी ने अपने यात्रासाहित्य में (यहां मैं यात्रोपयोगी विवरणों को छोड़ देता हूं) देश की स्थिति, उसके प्राकृतिक सौंदर्य के साथ वहां के जीवन, इतिहास और पुरातत्व पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है। उनकी तिब्बत तथा नेपाल की यात्राओं का उद्देश्य प्राचीन हस्तलिखित पोथियों की खोज भी रहा है, जैसे उन्होंने रूस की यात्रा वहां अध्यापन कार्य करने के लिए की थी। पर हमारे यात्री की दृष्टि सभी तरफ फैली रहती है। वह देश-काल-वस्तुओं के विशद विवरण के साथ स्थान विशेष के जीवन, उसके रीति-रिवाज, त्योहारों और उत्सवों का भी सजीव चित्र उपस्थित करता है :

> गुम्बा के मेले में सब बने-ठने थे। एकाध प्रौढ़-व्यस्क स्त्री शमलानुमा पुरानी टोपी पहने थी।···सभी की टोपियों के उलटे कनपटे में सफेद फलों के गुच्छे भी लटके हुए थे। किन्नर-किन्नरियां फूल के बड़े शौकीन होते हैं। फूल मौजूद हो और फूलों का गुच्छा उनकी टोपियों में न लगा हो ?
>
> (किन्नर देश में)

यही नहीं, यात्री वर्तमान को अतीत से मिलाकर देखने को खंडहरों में इतिहास को

खोज निकालने का कार्य भी करता है। वह पुराने मंदिरों, मूर्तियों तथा पोथियों को देखकर अपने मन के अंदर एक झंझा को झकझोरते हुए पाता है :

> कोठी के देवमंदिरों से लौटते समय मस्तिष्क में तूफान उठने लगा, और वह क्षणिक तूफान नहीं था। देवी से मुझे कुछ लेना-देना नहीं था, सवाल था भैरव जी और उनके साथियों का। यह यहां कहां से आए ? किसने इन्हें बनाया ? उस घोर स्वार्थी देश में परमार्थी अचल देव मंडली कहां से आ धमकी ?' (किन्नर देश में)

इन समस्त विवरणों, इतिहास और पुराण के तर्क-वितर्कों में उलझकर हमारा यात्री चतुर्दिक के बिखरे हुए प्रकृति सौंदर्य को बिलकुल भूल नहीं गया है। यह ठीक है कि उसकी शैली में काव्यात्मक भावशीलता को स्थान नहीं मिल सका है। वह प्रकृति के रूप को सीधे ढंग से संक्षिप्त संकेतों में उपस्थित करके आगे बढ़ जाता है :

> अब भी काशी के किनारे किनारे कभी उसके एक तट पर कभी दूसरे तट पर आगे बढ़ना था। रास्ते में लाल, गुलाबी और सफेद कई रंगों के फूलों वाले गुरास के पेड़ थे। बहुत से पेड़ तो आजकल अपने फूलों से ढक गए थे। एक वृक्ष तो अपने फूलों से ढका इतना आकर्षक था कि उसने मुझे ठहरने को विवश कर लिया। (यात्रा के पन्ने)

व्यक्तिगत पत्रों में भी यात्रासाहित्य का सर्जन हुआ है। अनेक विदेशयात्रियों ने अपने पत्रों में अपनी यात्राओं का विवरण दिया है। ऐसी सामग्री पत्र-पत्रिकाओं में अधिक प्रकाशित होती रही है और अधिकतर उन्हीं में रक्षित है। पत्रशैली में वैयक्तिक स्पर्श अपने आप आ जाता है और इस कारण यात्रा संबंधी वर्णनों में भावशीलता और आत्मीयता का वातावरण प्रस्तुत हो जाता है। विशेषकर यह बात व्यक्तिगत पत्रों में होती है, पत्र-पत्रिकाओं में छपने के उद्देश्य से, अथवा प्रकाशित कराने के उद्देश्य से लिखे गए पत्रों में वह बात नहीं आ पाती, क्योंकि उनमें सचेष्ट प्रयत्न रहता है। कभी कभी ऐसे पत्र डायरीशैली के समान ही हो जाते हैं, क्योंकि अपने आत्मीय व्यक्ति के सामने यात्री अपने समस्त ऊहापोह को निःसंकोच रख सकता है। कई लेखकों ने अपने पत्रों में यात्रा का विवरण दिया है जिनका उल्लेख यथास्थान किया जाएगा, क्योंकि उनके संस्मरण आदि भी हमारे सामने हैं। यहां डा० धीरेन्द्र वर्मा के 'यूरोप के पत्र' की चर्चा करना आवश्यक है। इन पत्रों की विशेषता यही है कि ये बिलकुल पारिवारिक शैली में यात्रा का विवरण प्रस्तुत करते हैं। इनमें कहीं भावावेश अथवा आत्मिक उल्लास नहीं व्यक्त हुआ है। लेखक ने सीधे-सरल ढंग से, बड़े ही असंपृक्त भाव से अपनी यात्रा और उसके जीवन का विवरण प्रस्तुत किया है, इस दृष्टि से कि पत्र को पढ़ने वाला भी उन परिस्थितियों की कल्पना कर सके—और यह भी स्पष्ट है कि हमारे यात्री के

सामने पारिवारिक स्तर का ही पाठक है। इसी कारण लेखक बीच बीच में अपने देश की याद दिलाता चलता है :

> नील नदी बरसाती गंगा से आधी होगी। यह मिस्र देश की प्राण है। इसकी तीन-चार मील चौड़ी घाटी में ही सब कुछ है—हरियाली है, खेती होती है, मनुष्य रहते हैं। कैरो नगर इसी के किनारे बसा है। उसके बाहर चारों ओर वीरान पहाड़ियां और रेगिस्तान है। (यूरोप के पत्र)

यशपाल की 'लोहे की दीवार के दोनों ओर' और गोविंददास की 'सुदूर दक्षिण-पूर्व' में उनकी यात्राओं के विस्तृत और व्यापक वर्णन हैं। आगे हम यात्रा संबंधी संस्मरण साहित्य पर विस्तार से विचार करेंगे, पर इनके पूर्व इन विस्तृत यात्रा विवरणों का विवेचन कर लेना उचित होगा। राजनीतिक उद्देश्य से की गई इन यात्राओं में लेखकों ने अपने चतुर्दिक के जीवन-जगत को देखने का संपूर्ण प्रयत्न किया है और ये विभिन्न देशों के जीवन को सामने रखने में सफल भी हुए हैं। यशपाल अपनी यात्रा में पड़ने वाले प्रत्येक स्थान का पूरा विस्तार देते हैं :

> साढ़े ग्यारह के लगभग गाड़ी वियाना स्टेशन से चली। वियाना नगर का आंचल अंगूर की खेतियों, दो मंजिली बस्तियों और छोटे छोटे कारखानों से घिरा है।'''खेती की भूमि प्राय: बरफ के टुकड़ों और कोहरों से ढकी हुई थी। वृक्षों के पत्ते हेमंत और बरफ के कारण झड़े हुए थे।'

यह यात्री बिना किसी जल्दी के क्रमश: एक बात के बाद दूसरी बात को लेता चलता है। उसमें न भावावेश है और न उत्तेजना, सीधे तर्क और यथार्थ चित्रण पर ही उसकी दृष्टि है। मार्ग के आकर्षण में यात्री कम उलझता है, पर स्थान, संस्थाओं आदि के विशद वर्णन प्रस्तुत यात्रा करता है। जोलशाई थिएटर का वर्णन करते हुए वह लिखता है :

> बैले का विषय 'स्वान लेक' (हंस झील) की कहानी थी। यवनिका उठती है। झील और जंगलों का प्राकृतिक दृश्य इतने मोहक और यथार्थ रूप में सामने आया कि यह जानते हुए कि हम हिमाच्छादित पर्वतों की उपत्यका में घूम नहीं रहे, थियेटर में बैठे हैं, मन में तरावट आ गई।

इसी प्रकार गोविंददास ने अपने यात्रा-विवरण में देश की प्रकृति, उसके निवासी तथा उसके रीति-रिवाजों आदि का विस्तृत वर्णन किया है। इन विवरणों के बीच कहीं कहीं लेखक का कौतूहल और उल्लास भी व्यक्त हुआ है :

> गुफाओं में घूमते हुए हमें ऐसा जान पड़ा जैसे कोई स्वप्न देख रहे हों और यह स्वप्न देखते-देखते जब हम नाव पर बैठकर ग्लोवर्म से भरे स्थान को देखने अँधेरा करके बिना एक शब्द भी बोले रवाना हुए तब तो इस स्वप्न की गहरी से गहरी स्थिति थी। अँधेरा करके चुपचाप इस दृश्य को देखने का कारण यह था कि उजेला और शोरगुल होने पर ग्लोवर्म अंतर्धान हो

जाते हैं, यह कहा गया था। (सुदूर दक्षिण-पूर्व)

परंतु अधिकतर लेखक भिन्न भिन्न प्रकार के विवरणों में ही उलझा रहा है। वैसे ये दोनों ही पुस्तकें उपयोगी हैं। इनसे विभिन्न देशों की भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्थिति का ज्ञान होता है।

प्रारंभ में ही कहा गया है कि यात्रा साहित्य की प्रवृत्ति निबंध शैली के निकट हैं और वह इस सीमा पर संस्मरण का रूप ग्रहण कर लेती है। अधिकतर साहित्यिक यात्रा विवरण संस्मरण के समान ही होते हैं। डा० भगवतशरण उपाध्याय की 'वो दुनिया' में उनकी पिछली अमरीका और यूरोप यात्रा के संस्मरण हैं। इस यात्री ने इनमें अमरीका (प्रमुखत:) और यूरोप की आत्मा को स्पर्श करते हुए देखने की कोशिश की है। उसने यात्रा का वर्णन गौण रखकर अमरीका के प्रवाहित जीवन को पकड़ने की कोशिश की है। साथ ही वह अपनी व्याख्या पूरे बल और आक्रोश के साथ करता चलता है :

> वह पिछली सन 50 की रात, 31 दिसंबर को न्यूयार्क की।···शोर फिर होने लगा। आकाश पाताल गूंजने लगे। मनुष्य हंस रहा था —बर्बर मनुष्य, और उसके अट्टहास को दिशाओं ने पश्चिम, दूर पश्चिम, सिंधु पार कोरिया के मैदानों में, जहां रात ठमकी हुई है, जहां नया सबेरा रात का मुंह नहीं देखना चाहता, पहुंचा दिया।

इस प्रकार ओज के साथ स्थितियों तथा चरित्रों को वह अंकित करता है। ऐतिहासिक व्यक्तित्व को गहरी दृष्टि से देखने और उनका शब्दचित्र उतारने में इस यात्री को कमाल हासिल है। इन संस्मरणों में अनेक चरित्रों की उद्‌भावना लेखक ने सजीव शैली में की है। जिस क्षिप्र तथा संयत शैली में यह यात्री व्यक्तित्व का चित्र अंकित करता है, उसी संक्षेप से वह दृश्यों के वर्णन में भी काम लेता है। और इन संकेतों में दृश्य का एक रूप जरूर सामने आता है :

> दोनों ओर रुई की तरह फैले हुए सफेद धुंधले मैदान, शायद चारों ओर, पर सामने-पीछे देख नहीं सकता। हमारा जहाज उड़ा जा रहा है, प्राय: 300 मील प्रति घंटे की रफ्तार से, पूर्व की ओर। यह मैदान जमीन का नहीं, रेत का भी नहीं, यद्यपि यह जहाज से दूर रेतीला सा दीखता है। है यह बादलों का—उन बादलों का, जो हम से हजारों फीट नीचे हैं, जिन पर धूप चमक रही है।

इसी प्रकार देश के सामाजिक जीवन को प्रधानत: दृष्टिपथ में रखकर यात्रा संस्मरण लिखने वाले दूसरे लेखक हैं अमृतराय। नए चीन ने सैकड़ों वर्षों की नींद के बाद सुबह की लाली देखी है, और तेजी से निर्माणपथ पर बढ़ते हुए इस राष्ट्र को देखकर हमारा यात्री उल्लास में खो जाता है :

> सम्मेलन का आखिरी दिन था। रात का तीन बजा होगा। सम्मेलन की

> कार्यवाही अभी खतम हुई थी कि न जाने कहां से सैकड़ों बच्चे फूलों की डालियां लिए हाल में घुस आए और प्रतिनिधियों पर पुष्प वर्षा करने लगे।...ये बच्चे हमारी शान्ति-शपथ की साकार मूर्ति थे—उस शपथ की, जिससे हम उनको और खुद अपने बच्चों को युद्ध की विभीषिका से बचाने के लिए संघर्ष करेंगे।

हमारे लेखक की कठिनाई यही है कि वह अपने उल्लास के प्रवाह में चीन के जीवन के नानाविध रूपों और स्पंदनों को प्रत्यक्ष करने के बजाय अनेक तर्क-वितर्कों के ऊहापोह में फैल जाते हैं। उनका आवेश संस्मरण के अनुरूप है, पर यात्रासहित्य की संज्ञा पाने के लिए लेखक को किंचित असंपृक्त भी रहना चाहिए। ऐसा नहीं कि यात्री तर्क-वितर्क में पड़ता नहीं, या वह अपनी मानसिक प्रतिक्रियाओं की अवज्ञा ही करेगा। पर जहां सामने बिखरे हुए जीवन की अनुभूति के मार्ग में वह बाधा बन जाए...सामने से देश विलीन हो जाए और यात्री के विचार तथा आवेग ही प्रधान हो जाए, वहां जान पड़ता है कि यात्री ने अपने धर्म की अवहेलना की है।

दूसरी ओर ऐसे भी यात्री हैं जिन्होंने चिंतन और ऊहापोह के आवेग के साथ जिंदगी की सांसों को मिला-जुला दिया है। रांगेय राघव ने 'तूफानों के बीच' में अकालपीड़ित बंगाल की अपनी यात्राओं के संस्मरण इसी शैली में प्रस्तुत किए हैं। उसने अकालपीड़ित बंगाल में घूमते हुए, मानवता की कराह का अनुभव किया है और उस पीड़ा की अनंत वेदना में भी उसने मानव आस्था को पहचाना है :

> युगांतर से दलित बंगाल का मानव पतित नहीं हुआ। अपराजित मानवता हुंकार उठी। चंडीदास की वह पुकार...सबार ऊपरे मानुष सत्य, ताहार ऊपरे नाई...माझी का धर्म है अपने ऊपर निर्भर रहने वालों को अपने से पहले बचाना। जब बंगाल के माझी का जीवन खतरे में था, किसी ने नहीं बचाया उसे। किंतु आज जीवन की बाजी लगाए दांव पर खेल रहा है। मां, पिता, सब मेरे हैं...माझी भी मेरा है। बंगाल की मानवता मेरी है।

बंगाल के क्षत-विक्षत जीवन को देखकर लेखक का मन उमड़ उमड़ आता है और सामने उभरते हुए चित्रों के साथ उसका आक्रोश व्यक्त हो उठता है।

अभी तक जिन यात्रा संस्मरणों का जिक्र किया जा रहा था, वे उन यात्रियों के हैं जो जीवन की पुकार से आकृष्ट होकर यात्रा करने वाले यायावर हैं। पर कुछ ऐसे भी यात्री हैं जो यात्रा की मस्त राहों पर भटकते हुए जीवन की पुकार सुन लेते हैं। देवेंद्र सत्यार्थी ने लोकजीवन के गीतों को बटोरने के लिए खानाबदोशों का जीवन बिताया है। यही कारण है कि इस यात्री के स्वर में लोकगीतों की ताजगी और उल्लास झलकता रहता है :

> नेपाल संगीतमय है। वहां सभी मुखरित हो उठते हैं। जाड़े में हिमालय की

> बरफीली हवाएं और ग्लेसियर राग की सृष्टि करते हैं। बसंत में वृक्षों पर बसने वाले असंख्य पक्षी अपने कलरव से उपत्याकाओं को कूजित करते हैं। वर्षा में चार दिन के अतिथि बादल, अपना मेघ मल्हार सुनाने के लिए फेरी लगाया करते हैं। इन सबके साथ स्वर में स्वर मिलाकर नाचता-गाता है, नेपाल। (धरती गाती है)

इसी कोटि के दूसरे यात्री देवेश दास हैं। गुरुदत्त के शब्दों में इस यात्री ने देश देश के माहात्म्य और सौंदर्य को सर्वांत:करण से स्वीकार किया है। देश देश की बिखरी हुई प्रकृति और खुले हुए जीवन के सम्मुख इनकी मुक्त यायावर आत्मा आकाश में पींगें भरने लगती है। यही कारण है कि इन्होंने अपनी 'यूरोप' तथा 'रजवाड़े' नामक पुस्तकों में देश देश के सौंदर्य और जीवन को स्वप्निल नेत्रों से देखा है।

> पिरेनीज शैलमाला की कितनी ही चोटियों पर एक अपूर्व नील आभा मूर्छित पड़ी रहती है, मानो निशांत की झुटपुटी स्मृति। कितने दिन से ऐसा स्निग्ध नील प्रकाश से भरा उषा का रूप नहीं देखा था।

आगे इस स्वप्नशील यात्री का मन वर्तमान से अतीत की ओर भागने लगता है। प्रकृति सौंदर्य के मध्य भग्नावशेषों के सहारे इस यात्री के मन पर अतीत अपनी घटनाओं तथा व्यक्तित्वों के साथ उभरने लगता है और लेखक अभिभूत होकर गत को अपनी कल्पना के रंगों में चित्रित करने लगता है :

> यह स्कॉट का सीमांत देश है। स्कॉट की लेखनी ही इसको इतना विचित्र, रोमांचकारी और प्राणवन्त कर गई है। स्कॉट के वर्णनों में जिस देश और दृश्य को पाता हूं वह अब भी अटूट है, केवल नहीं है उसका अद्‌भुत मनुष्य। मैलरोज ऐली के भग्न स्तूप अब भी खड़े हैं, शेष चरणों के गीतों में ज्योत्स्ना में इसका जैसा सुंदर वर्णन है, वह सुंदर म्लान महिमा अब भी इस स्तूप की है।

'रजवाड़े' की राजस्थान संबंधी यात्राओं में हमारे यात्री के मन में वीरों की अनेक गाथाएं, इतिहास की अनेक घटनाएं और प्रेम तथा उत्सर्ग की अनेक कहानियां गूंज-गूंज जाती हैं। इस लेखक के लिए वर्तमान, अतीत से विच्छिन्न कोई संज्ञा नहीं रखता। 'शिवालक की घाटियों में' यात्रा करने वाले श्री निधि में प्रकृति और उसके जीवन के प्रति बहुत अधिक आत्मीय भाव है। अपनी व्यापक सहानुभूति के कारण ही उसने वन्य जीवन का सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण किया है। इस जीवन के हल्के से हल्के चढ़ाव-उतार से वह परिचित है :

> देखा, मंडली से 25-30 हाथ दूर एक हरिण बैठा सो रहा है। बाघ उधर ही आ रहा है। एक ही दृष्टि में पहचान गया, यह मेरा पाल कर छोड़ा गया चंचल था। ऊपर कोमल दीखने वाले इन हरिणों ने उसे अब तक अपनी मंडली में नहीं मिलाया है। शायद, उनके जंगली नियमों में उसके लिए

प्रायश्चित की कोई व्यवस्था नहीं है। (शिवालक की घाटियों में) कौतूहल और जिज्ञासा के बीच यह अपने पाठकों के सम्मुख जंगल के अद्‌भुत रहस्यों का उद्‌घाटन करता है और पाठक आश्चर्यचकित होकर सुनता है।

अंत में उस साहित्यिक यायावर का उल्लेख करना है, जिसके असंपृक्त और निश्शंक भाव को देखकर प्रकृति पुकार उठती है—'अरे यायावर, रहेगा याद'। पर 'अज्ञेय' का यह निरपेक्ष भाव अपने यात्रास्थलों के कोमल-विराट सौंदर्य तथा जीवन की ऊम-चूम को अत्यंत गहराई से अनुभव करता है। यात्री अपने को अपने आपसे रिक्त करता है, इसलिए कि चतुर्दिक से भर सके, आस-पास के जीवन की संवेदनाओं को गहराई से महसूस कर सके। यात्री अपने चारों ओर कवि की दृष्टि से देखता है :

> जंगल में बीच बीच में खुला घास-भरा प्रदेश आ जाता है जिसमें महाकाय सेमल के धवलगात पेड़ मानो आगमिष्यत रक्त प्रसूनों की सुलगती हुई पूर्वानुभूति से कंटकित हो रहे थे और कहीं-कहीं किंशुकों के झुरमुट में आग (कुछ ही दिनों में खिल जाएगी) पहाड़ियों के पार्श्व को चिपटाती हुई, लपलपाती एक के बाद एक रूख को लीलती हुई ऊपर तक फैल जाएगी और ब्रह्मपुत्र का बालुका के पीले उत्तरीय में लिपटा हुआ गात मानो वसन्तश्री के लाल चुंबनों से लाल हो उठेगा।

यात्री अपने चारों ओर देखता है, उसकी दृष्टि में पुराण, इतिहास, पुरातत्व सभी कुछ आ जाता है, पर उसकी मूल आत्मा सच्चे यायावर की ही है, भारत के सीमांत पर खड़ा है, उसकी आंखों के सामने तरखूम का गर्वीला उभार है :

> इससे क्या कि इस मर्यादा पर्वत का नाम तरखूम है। इससे क्या उससे भी परली तरफ जो गान्धारयुगीन दुर्ग है, वह अब काफिर-कोट के नाम से प्रसिद्ध है। उठना-गिरना, बनना और मिटना, पाना और खोना, हर पारमिता की साधना में निहित है।

प्रकृति के कोमल और विराट सौंदर्य को हमारा यात्री कल्पना की कोमल तूलिका से अंकित करता है। वह सौंदर्य को जिस प्रकार चित्रित करने में सफल हुआ है उसी प्रकार उसके निर्भर आनंद और उल्लास को भी व्यंजित कर सका है। काश्मीर के कोंसरनाग पर्वत की शिरोरेखा पर यायावर के सामने विराट सौंदर्य आविर्भूत होता है :

> सौंदर्य को, रंग-रूप को, हम पीछे छोड़ आए थे। सामने था विराट; और उसके साधन रंग नहीं थे, केवल श्वेत और कृष्ण, केवल प्रकाश और छाया, केवल आलोक और निरालोक। यों जहां हम थे, वहां की काली या धूसर चट्टानों पर, जहां तहां काही की मिश्रहरित, ताम्र-लोहित रंगत थी ही, जल में घुली नीलिमा भी थी ही, और दूर उस पार की निस्संग चोटियों की हिम-

शीतल निर्मोह में लपेट रखने वाली बरफ की चादर में गैरिक भाव भी था, किंतु बोध को जो चीज पकड़ती थी, वह दृश्य था, रंगों की अनुपस्थिति में केवल रेखाओं और तलों का बहाव अन्योन्य-संवर्धक कोणों का ऊंचाई-निचाई और गहराई, निराडंबर महानता।

अपने यात्राक्रम में आनेवाले चरित्रों को वह उनकी व्यक्तिगत रेखाओं के साथ उभार देता है। व्यक्तिगत चरित्रों के साथ यात्री ने देशगत चरित्रों की अवतारणा भी सफलतापूर्वक की ही है। असम प्रदेश में ब्रह्मपुत्र पर नाव में उसे लगता है :

नाव नदी के बीच आकर खड़ी हो गई। मैंने ध्यान से किनारे की शिस्त को लेकर देखा, हम बिलकुल स्थिर खड़े हैं, हवा जोर की थी, मैंने कहा, 'नावरिया पाल खड़ी करो।' नावरिया केवल जोर से हंस दिया। असमियां लोग खूब हंसते हैं। बाधाओं पर और हंसते हैं। इसलिए कि ये बाधाओं को बाधा मानते ही नहीं, वह तो केवल काम न करने की एक युक्ति है और यदि काम न करना पड़े तो क्यों न हंसा जाय। बात यह थी कि हवा का रुख उलटा था। मैंने हवा की ओर मुंह करके कहा---'बेडो दिकदारी'। इस असमिया उक्ति में उनके जीवनालोचन का निचोड़ छिपा है। नावरिया ने मान लिया कि मैं उससे पूर्ण सहमत हूं और बैठकर तंबाकू पीने लगा।

और जब कभी यात्री की पुरातत्व दृष्टि के सामने कोई प्राचीन इमारत, मंदिर, मूर्ति अथवा उनका भग्नावेश बीते युगों का इतिहास खोलने लगता है, उस समय लेखक का भावावेश किंचित मुक्त हो जाता है। उनकी यात्रा में अनेक क्षण ऐसे आए हैं। एलुरा की गुफाओं को देखकर घाट के पश्चिम मुख फेरकर लौटती हुई सड़क पर सांझ को चलते हुए यात्री के मन पर कल्पना-प्रसूत मूर्तियां छा जाती हैं। और जब घिरते अंधेरे में वह लंबा चक्कर काटकर खुल्दाबाद की महराब के सामने आता है तो उसका मन प्रतिध्वनित हो उठता है।

प्रेमचंद की प्रासंगिकता

हिंदी कथा साहित्य में प्रेमचंद का नाम एक ऐसे शिखर के समान है जो यात्रा के क्रम में हर मोड़ हर पीछे छूट जाने पर भी सामने उभर उभरकर आता है। यही कारण है उनके बारे में अतिवादी वक्तव्य सुनाई देते हैं। कोई कहता है। हिंदी कथा साहित्य प्रेमचंद के आगे बढ़ा ही कितना है ? और दूसरा कहता पाया जाएगा कि अब प्रेमचंद का प्रारंभिक कथाकार के रूप में ऐतिहासिक महत्व है। इन दोनों सीमाओं के बीच प्रेमचंद के बारे में अनेक प्रश्न उठते हैं। पर इन सारे प्रश्नों को आज के संदर्भ में प्रेमचंद की प्रासंगिकता की जांच पड़ताल में समेटा जा सकता है।

शुरू में इस बात को समझ लेना जरूरी है कि पिछले युग के किसी रचनाकार को अपने समसामयिक युग में ज्यों का त्यों रखकर देखना, परखने का सही ढंग नहीं है। इतना ही नहीं उसके रचे हुए जीवन, अभिव्यक्त अनुभव, निर्मित चरित्रों को हम अपने युग के आधार पर ग्रहण नहीं कर सकते, यह अवश्य है कि हम अपने संदर्भ में उनका नया अर्थ, नया आयाम और नई अर्थवत्ता दे सकते हैं, बशर्ते कि पिछले युग की रचना में ऐसी अंतर्निहित क्षमता और संपन्नता हो। ऐसी दृष्टि जो हर युग की रचना को समतल पर रखकर परखने की चेष्टा करती है, मूल रचनाशीलता को ग्रहण करने में चूक जाती है।

रचना यानी कोई मूल्यवान सार्थक रचना दुहरे स्तर पर क्रियाशील होती है। एक स्तर पर वह अपने युगसंदर्भों से जुड़ती है और दूसरे स्तर पर व्यापक मानवीय संदर्भों को खोलती है। फिर ये दोनों स्तर एक दूसरे पर आधारित हैं और क्रियाशील भी होते हैं। रचना की महत्ता इन दोनों के अंत:संबंधों पर आधारित है और यह प्रक्रिया जितने विस्तार में जाती है रचना की प्रासंगिकता भी उतनी ही प्रमाणित हो सकती है।

पर यह भी स्पष्ट है कि रचनाकार इन दोनों स्तरों को अपनी रचना में जब अंतर्निहित करता है तब वह रचता है, सर्जन कर्म में प्रवृत्त होता है। यह ऐसा नहीं है कि अपने युग की परिस्थितियों, घटनाओं, चरित्रों और अनुभवों को इस तरह एक साथ रख दिया जाए कि वे सामान्य मानवीय अनुभव लगने लगें। इस प्रकार का विवरण सूचना या इतिहास हो सकता है साहित्य नहीं। जब जब साहित्य को विशेषकर कथासाहित्य को यथार्थ के नाम पर विषय यानी वस्तु की स्थिति के आधार पर जांचने परखने की कोशिश की जाती है, तब ऐसी ही विसंगतियां सामने आने लगती हैं। कोई भी रचनाकार अतीत या वर्तमान से घटनाओं, परिस्थितियों, चरित्रों को जोड़ने या जुटाने का काम नहीं करता और न ही वह इनको

बोधगम्य बनाने के लिए साधारण रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा करेगा। साहित्य की चर्चा में यथार्थ के नाम पर यह भ्रम प्रायः उत्पन्न किया जाता है, विशेषकर कथासाहित्य के प्रसंग में।

परंतु कथाकार भी रचना करता है। वह किसी चतुर्दिक फैले हुए यथार्थ का अनुकरण नहीं करता। प्रायः साहित्य की चर्चा में यथार्थ को इस रूप में मान लिया जाता है। इस प्रकार उसे रचनाकार के स्थान पर संवाददाता या विवरण प्रस्तुत करनेवाला मान लिया जाता है। वस्तुतः कथाकार रचयिता है, तब भी जब वह लोककथा के जिज्ञासा, उत्सुकता, कौतूहल, मनोरंजन, रहस्य ग्रौर रोमांस तथा अलौकिक तत्वों का उपयोग कर कथा रचता है और तब भी जब वह समसामयिक जीवन को अपनी कथासृष्टि में रचकर प्रस्तुत कर देता है। अतः जब कथाकार घटनाओं, परिस्थितियों और चरित्रों का निर्माण करता है, तब ये उसके लिए रचना के ऐसे उपकरण (बिंब, प्रतीक, मिथक) है जिनके प्रयोग से वह समसामयिक विशिष्ट अनुभव को रचनात्मक स्तर पर संयोजित करता है। और इस रचनाप्रक्रिया में ये अनुभव अपनी विशिष्टता में ऐसे व्यापक मानवीय संदर्भ से जुड़ते हैं कि किसी देश-काल परिवेश में इन अनुभवों को ग्रहण कर पाना संभव है। यह अवश्य है, हर युग में मानवीय संवेदना के स्तर पर इनको ग्रहण करते हुए इनके छिपे हुए अन्य भावार्थ उद्‌घाटित हो जाते हैं।

प्रेमचंद ने हिंदी कथासाहित्य को प्रायः किस्सागोई से रचना के स्तर पर प्रतिष्ठित किया है, साथ ही उन्होंने लोककथा के तत्वों का रचनात्मक उपयोग करने का प्रयत्न किया है। और सबसे महत्व का काम उन्होंने किया कि जीवन के यथार्थ को औपन्यासिक कला के आधार के रूप में प्रतिष्ठित किया। इनके पूर्ववर्ती हिंदी उपन्यासकारों ने व्यापक जीवन को समस्याओं के रूप में ग्रहण किया है। उनके मन में पहले समस्याएं और आदर्श रहे हैं। फिर इन मानदंडों के आधार पर किसी जीवनबिंदु को नियोजित किया गया या यों कहिए कि इन सांचों में जीवन के यथार्थ को बांधा गया। प्रेमचंद ने सर्वप्रथम अपने चतुर्दिक के जीवन में समस्याओं को देखा-परखा, फिर अपनी औपन्यासिक रचना में जीवन के मध्य समस्याओं को घटित होते व्यंजित किया। यही कारण है कि प्रेमचंद की चारित्रिक उद्‌भावनाएं अपने सहज स्वरूप के साथ वर्ग चरित्रों में परिलक्षित होती है। फिर ये चरित्र मानवीय भावनाओं के उस स्तर पर प्रतिष्ठित है जहां ये युग की संवेदनाओं का अतिक्रमण करते हैं।

यथार्थ संबंधी इस धारणा के साथ प्रेमचंद को लेकर चलाए गए यथार्थोन्मुखी आदर्श अथवा आदर्शोन्मुखी यथार्थ जैसे नारे बेमानी है। ये धारणाएं इस प्रकार के सपाट सोच-विचार से जुड़ती हैं जो चारों ओर के यथार्थ को साहित्य में देखने-पाने की चेष्टा करते हैं। हमारी साहित्य चर्चाओं में यथार्थ और आदर्श की परि-

कल्पनाओं को अधिकतर कथा के विषय से जोड़ दिया जाता है। यानी कि सपाट ढंग से मान लिया जाता है कि अगर कथाकार सामाजिक जीवन से उन सारे तथ्यों घटनाओं, चरित्रों को जुटाता है जिनको प्रचलित अर्थ में आदर्श अर्थात नैतिक दृष्टि से आदर्श नहीं माना जाता, तब कहा जाता है यह यथार्थ है। इसी प्रकार यदि लेखक का झुकाव चुनाव करते समय ऐसे पात्रों और घटनाओं की ओर है जो इन नैतिक आदर्शों का समर्थन करनेवाले हैं, तब मान लिया जाता है रचना आदर्शवादी है। कोई भी रचनाकार अपने विषय को इस प्रकार नहीं देखता। रचनाकार होने के नाते ही जीवन को जिस बिंदु पर ग्रहण करता है, पूर्णता के साथ ही। यह रचनाकार होने की पहली शर्त है। वह रचना के स्तर पर चुनाव करता है, पर यह चुनाव रचनात्मक विशिष्टता की दृष्टि का होगा, नैतिक दृष्टि का नहीं। अर्थात वह जीवन के किसी खंड को इस प्रकार रचता है कि वह एक पूरा संसार जान पड़े। यह तभी संभव है जब रचनाकार भाषा रूप में सारी घटनाओं, परिस्थितियों, चरित्रों को इस प्रकार व्यंजित करने में सक्षम हो कि अनुभव का एक संसार सामने उद्घाटित हो जाए। साधारण जीवन में हमारे सारे अनुभव समतलीय होते हैं। हम जिस स्तर, पक्ष या दृष्टि से घटनाओं, परिस्थितियों या पात्रों को देखते हैं, हमारा अनुभव उससे सीमित हो जाता है। पर रचनाकार न केवल अपने यथार्थ (विषय) को आयामात्मक स्वरूप में ग्रहण करता है वरन उसे रचना के अतिरिक्त आयाम से जोड़ता है, जिस स्तर पर रची हुई वस्तु (रचना के यथार्थ) में अनुभव की अनेक संभावनाएं निहित हो जाती हैं। भाषिक रचना के रूपविधान में घटनाओं, पात्रों और परिस्थितियों को बाहरी जगत के यथातथ्य के रूप में लेना-देखना रचनादृष्टि से अपरिचय प्रकट करना है। इस स्तर पर अपने भाषिक स्वरूप में ये सारे उपकरण मात्र अभिव्यक्ति रूप हैं।

इस बात को समझने-मानने में थोड़ी दिक्कत है। औपन्यासिक कला को प्रायः काव्य से अलग कर देने के कारण यह भ्रम उत्पन्न हो गया है कि कथासाहित्य किस्सागोई यानी कहानी कहने की कला से जुड़ा हुआ है वैसे कहानी कहने की कला में भी जिन तत्वों का उपयोग किया जाता है वे काल्पनिक सृष्टि के उपकरण ही हैं और इसी कारण कथासाहित्य ने अपनी रचनात्मक शुरुआत इस स्तर से की है। पर यह मानना कि औपन्यासिक कला जीवन के यथार्थ को कहानी कहने की शैली से प्रस्तुत करती है, उसकी महान साहित्यिक उपलब्धियों को अनदेखा करना है। किसी भी साहित्यिक विधा के समान, यहां तक कि काव्य की समकक्षता में भी, औपन्यासिक कला मानवीय जीवन की भाषिक रचना है। अतः जिस प्रकार काव्य में अनुभव की रचना उपमानों, प्रतीकों, बिंबों और मिथकों के भाषिक स्वरूप से संभव होती है, उसी प्रकार उपन्यास (कहानी) में भाषिक संरचना का अंततः महत्व है। इस संरचना में जिस प्रकार लोककथा के तत्वों

(कौतूहल, जिज्ञासा, संयोग, रहस्य, रोमांस आदि) का भाषिक उपयोग किया जा सकता है, उसी प्रकार जीवन के यथार्थ के तत्वों (घटना, परिस्थिति, चरित्र आदि) को भाषिक रचनाविधान में ही संयोजित किया जा सकता है।

ऐसा भी है कि कथासाहित्य में परिस्थितियों और भावस्थितियों को अभिव्यक्त करने के लिए काव्य उपकरणों (उपमान, प्रतीक, मिथक और बिंबों) का उपयोग किया गया हो। और सघन और जटिल मनःस्थितियों तथा अनुभवों को व्यंजित करने में कभी ऐसे प्रयोग कथात्मक उपलब्धि में सहायक हो जाते हैं। परंतु अनेक बार कथाकार अलंकरण के रूप में इनको अपनी कथा में सजाकर खुश होता है। पर यह सजावट कथात्मक रचना में बाधक होती है। इस प्रकार के प्रयोग भी ऐसी गलत धारणाओं से उपजते हैं कि इन काव्य उपकरणों का प्रयोग ही काव्य है और उपन्यासकार अपनी रचना को थोड़ा काव्यात्मक बनाना चाहता है। पर यह एक अपरिपक्व मन का मोह है या रचना की सही पहचान की कमी। इसको यों समझ सकते हैं कि अधकचरा कथाकार कभी लोककथा के तत्वों को इतना महत्व देता है कि वह अपनी कथा को कौतूहल संयोग और रहस्य के आधार पर संयोजित करके खुश हो जाता है। अथवा अपने समसामयिक जीवन के यथातथ्य का अच्छा विवरण प्रस्तुत कर अपने को सफल लेखक मान बैठता है। परंतु यह सब कुछ होते हुए, इन सबका उपयोग करके भी उपन्यास या कहानी की रचना संभव नहीं है, जब तक कि इन सब का उपयोग रचना के स्तर पर न हो।

यहां ध्यान देने की बात है कि जिस आधुनिक युग का प्रारंभ उन्नीसवीं शती से हो चुका था, उसके संघात से भारतीय मानसिकता में बदलाव शुरू हो गया था। यह सांस्कृतिक पुनरुत्थान का ही नहीं, संक्रमण का युग था। पश्चिमी भाषा, साहित्य और संस्कृति के संपर्क से इस देश में बड़ा परिवर्तन घटित हो रहा था। परंतु विदेशी शासन और अंगरेजी कूटनीति का दबाव अपने ढंग से भारतीय मानस को प्रभावित कर रहा था। इन दबावों और प्रभावों के बीच शिक्षित वर्ग दो भागों में मोटे तौर पर बट गया। शिक्षित वर्ग का एक अंश पश्चिमी (प्रायः अंगरेजी) भाषा और संस्कृति का अनुवर्ती रहा, जो हर स्तर पर नकल करने में ही आधुनिक और उन्नत होने का गौरव अनुभव करता था। इस हीन भावना के फलस्वरूप वह देशी भाषा, साहित्य और संस्कृति को हेय और उपेक्षणीय मानता रहा। पश्चिमी आधार पर जो भी सोचने समझने का प्रयत्न इस वर्ग ने किया, वह ऊपर से आकर्षक लगकर मौलिक और अपने संदर्भ से जुड़ा नहीं रह सका। पर यह अवश्य रहा कि इस आकर्षण से खिंचकर शिक्षित वर्ग की बहुसंख्यक मेधा अनुर्वर हो गई, शायद विदेशी शासक की यही नीति थी। शिक्षित वर्ग का दूसरा अंश इस संघात से भारतीय संस्कृति के नए अन्वेषण कार्य में लग गया। उसने

प्रयत्न किया कि भारतीय जीवन की सांस्कृतिक परंपरा को नए युग में संक्रमित किया जा सके। हिंदी इस राष्ट्रीय चेतना से जुड़ी रही है और हिंदी का साहित्यकार इस वर्ग के अंतर्गत आता है।

इस सांस्कृतिक प्रक्रिया को समझे बिना हिंदी साहित्य के आधुनिक काल के प्रारंभिक चरणों के सर्जनात्मक प्रयत्नों को समझ पाना संभव नहीं है। हिंदी साहित्यकार के सामने उधार ली हुई मानसिकता से सर्जनकर्म में लग पाना संभव नहीं था। उसे अपने समाज से जुड़कर ही अपने सर्जन का मार्ग खोजना था। भाषिक सर्जन सांस्कृतिक प्रक्रिया से जुड़ा रहता है। जब उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध से भारतीय जीवन के नए संस्कार का प्रयत्न शुरू हुआ, तब तक भारतीय मध्ययुग की मौलिक रचनात्मक क्षमता रूपों, प्रतिरूपों में ह्रासोन्मुखी होती हुई रूढ़िबद्ध और गतिरुद्ध हो चुकी थी। अठारहवीं शताब्दी तक आते आते यूरोपीय शक्तियों ने भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था को राजनीतिक कुचक्रों के माध्यम से ऐसा छिन्न-भिन्न कर दिया था कि मुगलकाल के प्रारंभिक दिनों की संपन्नता में विकसित होनेवाली रूपात्मक कलादृष्टि सांस्कृतिक ह्रास के साथ विजड़ित होती गई।

इस स्थिति में हमारे साहित्यकारों को सांस्कृतिक पुनरुत्थान के प्रयत्नों के बीच से अपनी रचनादृष्टि विकसित करनी थी। सांस्कृतिक प्रक्रिया की यह नई शुरुआत भारतीय समाज की सतह से ही संभव थी। क्योंकि अधिक गहरे, सघन और संवेदन के स्तर पर क्रियाशील होने के लिए क्रमश: जनजीवन को भारतीय परंपरा और पाश्चात्य चुनौतियों से परिचित होना था। आकस्मिक रूप से यह संभव नहीं था, उस समय न भारतीय संस्कृति की परंपरा का आधुनिक संदर्भ में मूल्यांकन आज के अर्थ में संभव था और न पाश्चात्य उन्नत संस्कृति की चुनौतियों का उत्तर आज के अर्थ में खोज पाना आसान था। उस समय सामाजिक जीवन के समुद्र की सतह को उद्वेलित करना ही संभव था। सांस्कृतिक संक्रमण की स्थिति में हमारी भाषा भी पिछले संस्कारों से मुक्त होकर नए संस्कार को विकसित कर रही थी। अत: हमारे साहित्यकारों के रचनात्मक प्रयत्नों में यह प्रारंभिक अवस्था परिलक्षित होती है। जैसे उस युग के सांस्कृतिक प्रयत्नों के बिना आज की आधुनिक सांस्कृतिक दृष्टि (जो भी है, जिस रूप में है) की कल्पना संभव नहीं है, उसी प्रकार भारतेंदु युग के रचनात्मक प्रयोगों के बिना आधुनिक रचनादृष्टि की कल्पना नहीं की जा सकती।

प्रेमचंद की रचनात्मक क्षमता पर विचार करते समय इस सांस्कृतिक संक्रमण की स्थितियों को ध्यान में रखना जरूरी है। इस स्तर पर सारी समस्या को रखकर देखने से उनकी प्रासंगिकता से जुड़े हुए सवालों का जवाब भी मिल सकता है। प्रेमचंद ने हिंदी उपन्यासों को विकासक्रम के जिस स्तर से ग्रहण किया है,

वहां हमारा आधुनिक जीवन अपनी नई समस्याओं से अधिक गहराई से परिचित होने लगा था। हमारी राजनीतिक चेतना विकसित हो रही थी, राष्ट्रीय भावना में नया उन्मेष था। सांस्कृतिक संक्रमण में भारतीय प्राचीन संस्कृति का पुनरन्वेषण किया जा रहा था। हमारा काव्य और नाटक इस अन्वेषण की प्रक्रिया से जुड़ा और उनको इससे भाषा का संस्कार तथा अभिव्यक्ति की क्षमता मिल सकी। भारतीय पुनरुत्थान में उन्नीसवीं शती से समर्थ प्रतिभाएं हुई, उनमें स्वामी रामकृष्ण, विवेकानंद, रामतीर्थ आदि ने दर्शन और अध्यात्म की नई व्याख्या की और स्वामी दयानंद ने इसके साथ भारतीय समाज को पुनर्गठित करने का अथक प्रयत्न किया। कथाकार के रूप में प्रेमचंद सामाजिक जीवन से जुड़ते हैं। आध्यात्मिक चेतना का यह नया सांस्कृतिक संक्रमण समाज के प्रबुद्ध वर्ग में परिलक्षित हुआ, अतः कवि और नाटककारों ने जीवन को जिस स्तर पर अभिव्यक्त किया है, उनका भाषासंस्कार उसके अनुरूप विकसित हुआ। छायावादी काव्य और प्रसाद के नाटकों की भाषा इस सांस्कृतिक स्तर पर अनुभवों की अभिव्यक्ति का स्वरूप है।

प्रेमचंद अपने युग के सांस्कृतिक संक्रमण के दूसरे पक्ष से जुड़ते हैं। दयानंद ने भारतीय आधुनिक जीवन को सप्राण और गतिशील करने के लिए भारतीय समाज को अपनी दृष्टि में रखा था। अपनी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि के बावजूद उन्होंने भारतीय समाज के आधुनिकीकरण पर सर्वाधिक बल दिया था। यही कारण है दयानंद विवेकानंद की तुलना में कम चमत्कारी या आकर्षक व्यक्तित्व उस प्रबुद्ध वर्ग के लिए रहे जो अपने विराट समाज के रूपांतरण के पहले ही भारतीय संस्कृति की गरिमा और पश्चिमी भावबोध से जुड़कर अपने को उन्नत और आधुनिक महसूस करना चाहता था। परंतु राजनीतिक मंच पर गांधीजी ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने राजनीतिक स्वाधीनता के साथ भारतीय समाज के रूपांतरण पर पुनः अधिक बल दिया है। अतः कथाकार के रूप में प्रेमचंद अपने युग के व्यापक सामाजिक जीवन से जुड़ते हैं और इस कारण सांस्कृतिक संक्रमण के इन दो उन्नायकों, दयानंद और गांधी से उनकी निकटता भी स्पष्ट है।

संस्कृति के इस दार्शनिक-आध्यात्मिक स्तर पर पश्चिम की चुनौती को स्वीकार करना आसान था और इस नए उन्मेष के साथ पश्चिमी भावबोध को आधुनिक संस्कार के रूप में विकसित करना भी संभव था। पर सामाजिक रूपांतरण की सांस्कृतिक प्रक्रिया को आगे बढ़ाना, उसको पश्चिम की चुनौतियों के बीच भारतीय संदर्भ में विकसित करना और वृहद् समाज को अनुकरण की विकृतियों से बचाकर आधुनिक बनाना बहुत कठिन कार्य था। दयानंद ने उन्नीसवीं शती में समाज के स्तर पर जो कठिन चुनौती स्वीकार की थी और गांधी ने बीसवीं शती में राजनीति के स्तर जो कठिन संकल्प किया था, साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचंद

ने व्यापक भारतीय समाज को दृष्टि में रखकर उसी को रचनात्मक स्तर पर ग्रहण किया है। यह सर्जनधर्म कठिन था, क्योंकि इस स्तर पर भारतीय आध्यात्मिक चेतना और पश्चिमी भावबोध का सहारा लेना संभव नहीं था। अनेक स्तरों पर विजड़ित और गतिरुद्ध समाज के अंदर की क्षमता और उर्जा को पहिचानना, उसके आधार पर पश्चिमी संघातों को आत्मसात करते हुए इस समाज को पुनः स्पंदित और गतिशील करना साधारण उपक्रम नहीं था। गांधीजी ने ऐसा करने का प्रयत्न किया था और इसके लिए उन्हें अपने अंदर सारे पश्चिमी संस्कार को खपा लेना पड़ा और फिर वे भारतीय जीवन के साथ जुड़कर एकरस हो गए। जीवन से गहरे स्तर पर जुड़ने की प्रक्रिया में गांधी ने भारतीय संस्कृति की समस्त जीवित परंपरा का साक्षात्कार किया और उसका आधुनिक संक्रमण भी किया। यह इसी प्रकार संभव था। प्रेमचंद ने इस स्तर पर अपने रचनाकर्म को प्रतिष्ठित किया है।

गांधी के समान ही प्रेमचंद अपने समाज से जुड़ने की प्रक्रिया में ही रचनाधर्मी रहे हैं। पश्चिमी अथवा भारतीय संस्कृति के मूल्यवान तत्वों, उनकी समृद्ध परंपरा और सूक्ष्म भावाभिव्यक्तियों के सहारे प्रेमचंद ने ऊंचा और विशिष्ट साहित्य रचने की चेष्टा नहीं की और न उनके मन में गहन अभिव्यंजना वाला साहित्य रचकर विशिष्ट वर्ग को आकर्षित और चमत्कृत करने का मोह रहा है। ठीक गांधीजी के समान उन्होंने ठेठ भारतीय समाज से तादात्म्य स्थापित किया। गांधीजी ठेठ भारतीय जीवन का ही गतिशील और सर्जनशील बनाना चाहते थे, क्योंकि भारतीय जीवन का सच्चा रूपांतरण यही है। इसमें परंपरित संस्कृति और यूरोपीय आधुनिक दृष्टि सहायक तत्व के रूप में है। इसी प्रकार प्रेमचंद ने हिंदी उपन्यास की रचनात्मक क्षमता का अन्वेषण भारतीय जीवन के इस साक्षात कार के माध्यम से किया है। वे समझते है, बिना संपूर्ण सामाजिक जीवन के मौलिक रचना के स्तर पर गतिशील हुए साहित्य की रचनाशीलता भी विकसित नहीं हो सकती। सीधे सामाजिक जीवन के आधार पर रचना करने के कारण प्रेमचंद ने उन्हीं समस्याओं, प्रश्नों, स्थितियों, घटनाओं और चरित्रों को अपने कथासाहित्य में ग्रहण किया है जो उनके समसामयिक यथार्थ से निकलते हैं। और उनकी भाषा, संवेदना, रचनाविधान आदि भी इसी से निश्चित होते हैं। अतः उनके साहित्य से सूक्ष्म संवेदनाओं और सघन भाषिक संरचना की अपेक्षा नहीं की जा सकती। यह इनकी क्षमता है, कमजोरी नहीं, क्योंकि इस युग में सामाजिक स्तर पर सूक्ष्म और सघन संवेदन की भाषा का विकास संभव नहीं था अथवा छायावादी काव्यभाषा के समान वह एक विशिष्ट वर्ग के मानसिक संस्कार के आगे जाने में असमर्थ रह जाती। काव्य और नाटक में इस प्रकार के संस्कार की भाषा से काम चल सका (एक सीमा तक) पर उपन्यास में व्यापक जीवन को

अभिव्यक्त करने के लिए इसका उपयोग संभव नहीं था।

प्रेमचंद के साहित्य में सामाजिक जीवन का बहिरंग अधिक है, अंतरंग उसके साथ व्यंजित और अभिव्यक्त है। उसी प्रकार उनकी भाषा वर्णन की भाषा है, भावव्यंजनाएं और मानसिक अंतर्द्वंद्व उसमें निहित है। प्रेमचंद ने अपने समाज का यथार्थ पहचाना और उसकी भाषा में ही इस यथार्थ का पुनः रचनात्मक स्तर पर सर्जन किया। भाषा सांस्कृतिक प्रक्रिया का रूपविधान है, उसे इस प्रक्रिया से अलग करके नहीं देखा जा सकता। सामाजिक यथार्थ को अपने कथासाहित्य में रचने के लिए प्रेमचंद यदि उसी की भाषा का रचना के स्तर पर प्रयोग करते हैं तो यह सहज है। प्रेमचंद अपने उपन्यासों का रचनाविधान घटनाओं और पात्रों के आधार पर संयोजित करते हैं और इस स्तर पर उनकी भाषा परिस्थितियों के माध्यम से चरित्र की सृष्टि करने में सफल होती है। और पात्रों की मानसिक क्रिया प्रतिक्रियाओं को घटनाक्रम के संयोजन में अभिव्यक्ति मिलती है। प्रेमचंद के पूर्व लोककथा के तत्वों का उपयोग ऐतिहासिक रोमांसों और ऐयारी-जासूसी उपन्यासों में किया जा रहा था। दूसरी ओर उन्नीसवीं शती से ही सामाजिक समस्याओं के सांचों में सामाजिक जीवन को प्रस्तुत करने का उपक्रम भी उपन्यास कारों ने किया था। वस्तुतः इस युग में प्रेमचंद ने इन प्रयत्नों को सही रचनात्मक स्वरूप दिया है। अब सांस्कृतिक प्रक्रिया में गतिशीलता आ चुकी थी, जिन समस्याओं के आधार पर समाज को जानने-समझने का प्रयत्न किया जा रहा था, उनको सामाजिक जीवन के साक्षात्कार में अधिक गहरे और जीवंत स्तर पर ग्रहण किया जा सका। प्रेमचंद के उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ का प्रयोग रचनात्मक स्तर पर हुआ है और उन्होंने इसके साथ आकस्मिकता संयोग, चमत्कार, रहस्य और रोमांस जैसे लोकतत्वों का उपयोग भी अपनी रचनाओं में किया है। औप-न्यासिक कला के विकास में यह महत्वपूर्ण मोड़ था। अवश्य ही इनका उपयोग यथार्थ के रचनात्मक प्रयोग की दृष्टि से प्रारंभिक है अथवा रचनाकार की कम-जोरी का परिचायक है। परंतु यहां ध्यान देने की बात है कि प्रेमचंद हिंदी उपन्यासों में यथार्थ के आधार पर रचना करने में प्रवृत्त हुए हैं और उनके लिए औपन्यासिक कला के प्रारंभिक उपकरणों का प्रयोग करना स्वाभाविक था। परंतु प्रेमचंद के उपन्यासों के विकासक्रम में भी देखा जा सकता है कि प्रारंभिक उपन्यासों में इन लोककथातत्वों का उपयोग जिस प्रकार किया गया, वह अन्य उपन्यासों में कम होता गया है। प्रेमचंद जिस प्रकार यथार्थ के रचनात्मक उपयोग में सक्षम होते गए हैं, उन्हें इन उपकरणों के आश्रय से मुक्ति भी मिलती गई है।

प्रेमचंद की कलात्मक क्षमता इस बात में है कि उन्होंने भारतीय समाज की परिस्थिति के बीच से लोकतत्वों के रचनात्मक प्रयोग के द्वारा यथार्थ को ग्रहण करने का प्रयत्न किया। प्रारंभिक प्रयोग में इन तत्वों की अतिरंजना भी स्पष्ट

है, पर यहां कलाकार की दृष्टि के महत्व को समझा जा सकता है कि उसने इस प्रकार भारतीय समाज की अतिरंजनाओं को भी अभिव्यक्त किया है। परंतु ज्यों ज्यों सामाजिक जीवन अधिक गतिशील और संवेदनशील हुआ है, प्रेमचंद की रचनादृष्टि यथार्थ को रचनात्मक स्तर पर ग्रहण करने में संलग्न हुई। और हम विकासक्रम में क्रमश: प्रेमचंद ने लोकतत्वों के प्रयोग से अपने को मुक्त किया और शुद्ध यथार्थ की रचना की ओर प्रवृत्त हुए। इसका अर्थ है कि उन्होंने घटना, परिस्थिति, चरित्र, जैसे उपकरणों से कथा का संपूर्ण संयोजन किया। स्वत: भाषिक संरचना में ये उपकरण अनुभव को नानाविध संदर्भों से जोड़ने में समर्थ हुए।

प्रेमचंद सामाजिक यथार्थ के कथाकार हैं, क्योंकि जैसा कहा गया है उन्होंने हिंदी कथा को भारतीय जीवन से जोड़ा और सामाजिक यथार्थ की रचना करने का प्रयत्न किया। इनके संबंध में आदर्शवाद का यह अर्थ लेना कि कुछ महत्वपूर्ण पात्रों की प्रेरणा अपने समाज या राष्ट्र के निर्माण की है, साहित्यिक आदर्शवाद और यथार्थवाद के बारे में नासमझी है। प्रश्न है कि प्रेमचंद के सर्जनात्मक तत्व और उनकी भाषिक संरचना जीवन के यथार्थ से ग्रहण किए गए हैं अथवा लेखक की परिकल्पना से निर्मित हुए हैं। आदर्शवादी रचनाओं में चरित्रों का निर्माण गौरव और गरिमा के साथ किया जाता है। यह गरिमा नैतिक मूल्यों से सीधे अर्थ में नहीं जुड़ती, क्योंकि नैतिक दृष्टि से अस्वीकार्य पात्र का चरित्र भी भव्य ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐसी रचनाओं का संपूर्ण वस्तुविधान, भाषारूप, शैली शिल्प भी उदात्तता की ओर उन्मुख होता है। इस दृष्टि से प्रेमचंद को आदर्शवादी कहना (चाहे उन्मुखता के अर्थ में क्यों न लिया जाए) असंगत है। प्रेमचंद एकदम अपने युग के यथार्थ से जुड़कर रचनाकर्म में प्रवृत्त हुए हैं। प्रारंभिक उपन्यासों में कुछ अतिरंजनाएं, किस्सागोई का आकर्षण इस कारण है कि वे सामाजिक यथार्थ को रचनात्मक स्तर पर संयोजित करने के लिए लोकतत्वों का आश्रय लेते हैं। इसका अर्थ है कि प्रारंभ में उन्होंने समाज की अतिरंजना को ही रचनात्मक स्वरूप दिया। यह उनकी कमजोरी है पर समाज की स्थिति से अलग नहीं।

प्रेमचंद ने युगविशेष के जनित को, जो उनका अपना युग था, अपने उपन्यासों में रचने का प्रयत्न किया है। और यह उस युग का सामाजिक यथार्थ है, सामाजिक इस अर्थ में कि उन्होंने अपने रचनाक्रम में जीवन का जो स्वरूप निर्मित किया है वह व्यापक भारतीय समाज की समस्याओं, परिस्थितियों, मूल्यों, असंगतियों और अर्थवत्ताओं को अनेक रूपों और स्तरों पर व्यंजित करता है। उनके रचे हुए पात्र अपनी सारी मानसिकता में समाजसापेक्ष है, अर्थात उनका चरित्र मानसिक क्रिया प्रतिक्रियाओं में सामाजिक जीवन के व्यापक अनुभव को अभिव्यक्त करता है। यही कारण है कि रचना की भाषा सामाजिक जीवन की घटनाओं, परिस्थितियों, समस्याओं का ही भाषा रूप है। भाषा इतिहास, समाज और संस्कृति से अभिन्न

रहती है। अतः प्रेमचंद ने अपनी रचना के लिए सही भाषा का उपयोग किया है। इसी समाज और भाषा के स्तर से उन्होंने चरित्रों का निर्माण किया है, जीवन-खंडों को नियोजित किया है, अनुभव संदर्भों को विकसित किया है और फिर संपूर्ण रचनाक्रम से अपने युग की मूल्यदृष्टि तथा सार्थकता को भी व्यंजित किया है।

प्रश्न उठता है कि प्रेमचंद इस रचनात्मक उपक्रम में कहां तक सफल रहे हैं? ऐसे आलोचकों के आक्षेपों का उत्तर ऊपर के विवेचन में दिया जा चुका है जो रचना में खास तरह से सघन और जटिल अनुभवों की अभिव्यक्ति को ही महत्व देते हैं। ऐसा जरूर लग सकता है कि इस प्रकार के वैयक्तिक अनुभवों की अभिव्यक्ति अधिक मार्मिक ,अधिक सूक्ष्म और कलात्मक है। परंतु इस प्रकार के अनुभव खंड यदि जीवन की व्यापक प्रक्रिया से जुड़ नहीं पाते तो ये रचनाएं कोई व्यापक गंभीर और प्रामाणिक प्रभाव नहीं डाल सकती। फिर इन रचनाओं के चमत्कारी प्रभाव और लोकतत्वों के मनोरंजक प्रभाव में रचना के स्तर पर केवल संस्कारगत अंतर रह जाता है। इसके विपरीत प्रेमचंद जैसे कलाकार जब यथार्थ के बाध्य उपकरणों के माध्यम से जीवनगत अनुभवों की सृष्टि करते हैं और अपनी रचना को व्यापक सामाजिक जीवनक्रम से जोड़ने में समर्थ होते हैं, तब उनकी रचनाओं का मूल्य बढ़ जाता है। कोई रचना अलग अलग अनुभव खंडो का संग्रह नहीं होती, यदि है तो सफल नहीं मानी जाएगी। वह समस्त अनुभवों की आंतरिक संगति से जीवनक्रम की सृष्टि करती है। इस दृष्टि से घटनाओं, परिस्थितियों, चरित्रों के भाषिक संयोजन से रचना का स्वरूप बना हो अथवा मानसिक द्वंदों, प्रतिक्रियाओं, भावात्मक संघर्षों, ऊहापोहों और सूक्ष्म संवेदनाओं की भाषिक अभिव्यक्ति से बना हो, रचना की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह जीवनक्रम प्रस्तुत कर सकी है या नहीं और जीवनक्रम युग की सांस्कृतिक प्रक्रिया से जुड़कर किसी सार्थक दिशा की ओर उन्मुक्त है या नहीं।

प्रेमचंद ने पहला मार्ग अपनाया है और इसका कारण जैसा बताया गया है कि उनकी अपने युग और समाज के प्रति संसक्ति (इन्वाल्वमेंट) है। इसी से उन्होंने सामाजिक यथार्थ को अपनी रचना का विषय बनाया है। परंतु उन्होंने इस यथार्थ के भाषिक उपादानों से ऐसे अनुभवखंडों को छुआ है जो एक व्यापक जीवनक्रम को प्रस्तुत करते हैं। अतः व्यक्ति और समाज की क्रिया-प्रतिक्रिया का भावजगत इस रचना में स्वयं उद्घाटित होता चलता है। कलाकार के रूप में प्रेमचंद की कमजोरी का सूत्र भी उनके सामाजिक (कंसर्न) संसर्ग से ग्रहण किया जा सकता है। कलाकार का लगाव अपने युग, समाज और संस्कृति से आंतरिक और रचनात्मक ही संभव है। वह युगजीवन की आंतरिक प्रक्रिया से जुड़कर अपनी रचना में उसके अनुभव को रूपायित करता है। पर जब रचनाकार का यह लगाव अधिक प्रबल होकर उसके मानसिक चिंतन को प्रभावित करता

है, वह बेचैन होकर अपने समसामयिक जीवन को समस्या और परिस्थिति के रूप में विश्लेषित करने की ओर प्रवत्त हो जाता है। यदि संसर्ग (कंसर्न) गहराता जाता है और आंतरिक होकर रचना का रूप ग्रहण करता है तो उसमें कलात्मक संगति और संयोजन अधिक पूर्ण होता है। अनेक स्थलों पर अपनी रचना में प्रेमचंद का संसर्ग (कंसर्न) ऊपर आ जाता है और उनकी रचनाओं की जीवनक्रम संबंधी संगति को खंडित कर देता है। पूरी रचना अनुभव खंडों से पूरे जीवनक्रम की परिकल्पना में बीच बीच में बाधित और खंडित हो जाती है। ऐसे स्थलों पर उनकी भाषिक क्षमता की कमजोरी भी उजागर हो जाती है।

परंतु प्रेमचंद की प्रासंगिकता उनके अपने युग की प्रामाणिकता के साथ जुड़ी हुई है। वे ऐसे रचनाकार हैं जिन्होंने निरंतर युगजीवन को पूर्णता में ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। और उनकी महानता इस बात में है कि उन्होंने मात्र वस्तु की रचना नहीं की, चरित्रों का सर्जन नहीं किया इनके माध्यम से अपने युग की संपूर्ण सांस्कृतिक प्रक्रिया को ग्रहण करने की चेष्टा की है। यही कारण है उस युग के समस्त प्रयत्नों, मूल्यचेष्टाओं, अर्थवत्ताओं, विसंगतियों और अतिरंजनों को हम उनके कथासाहित्य में अभिव्यक्त पाते हैं। इनके साथ रचनाकार निरंतर अपने युग की दृष्टि खोजने के प्रयत्न में है जो कभी झलक मारती है और कभी ओझल हो जाती है। इस महान प्रयत्न को हम आज के युग में अपने संघर्ष के बीच नए संदर्भ में, नए अर्थ में ग्रहण कर सकते हैं।

अनुक्रमणी

मूल्य : 45·00

M

मैकमिलन इंडिया लिमिटेड
नई दिल्ली बंबई कलकत्ता मद्रास